

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186250

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^H342.54 Accession No. P. GH 3670

Author 2439B
यशवान्दास

Title वासुदेव उपनिषद्-चिकित्सा

This book should be returned on or before the date last marked below.

विषय-सूची

प्रथम खंड

वर्तमान अपराध-चिकित्सा

१—विषय-प्रवेश

नव-निर्माण और अपराधी—अपराध किसे कहा जाता है ?—कुछ विशेष बातें—अपराध और सामाजिक जीवन—असाधारण अवस्था; समाज हितकर अपराध (?)—अपराध न समझे जाने वाले दुष्कृत्य—अपराधों के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ—अपराध की परिभाषा करने में कठिनाई—साधारण अपराध—प्राचीन और आधुनिक अपराध—अपराध एक प्रकार का रोग है ।

पृष्ठ १—१०

२—चिकित्सा-शैली और चिकित्सक

वर्तमान चिकित्सा-पद्धति—प्रेरक हेतु का विचार नहीं किया जाता—आधुनिक अपराध-चिकित्सक—पुलिस-वकील—जज-जेलर—जेल-सुपरिन्टेण्डेंट—जेल के पहरेदार (वार्डर्स)—डाक्टर साहब पहले अपना इलाज करिये—विशेष वक्तव्य ।

पृष्ठ ११—१८

३—बैत की सजा

अपराध-रोग की मुख्य औषधि, दंड—दंडों के भेद—शारीरिक दंड—बैत की सजा—बैत लगाने वाले की दृष्टि से—दर्शकों की दृष्टि से—अपराधी का पतन—जाग्रत लोकमत—इस प्रथा का अन्त होना आवश्यक है ।

पृष्ठ १९—२५

४—जुर्माना और माल की जप्ती

जुर्माने की प्राचीनता—जुर्माने की हेतु, राज्य की आय—अपराधी को दंड—जुर्माना और लोभ की प्रवृत्ति—धनवानों पर जुर्माने का असर—गरीबों की बरबादी—माल की जप्ती—नैतिक दुष्परिणाम—अपराधियों की वृद्धि । पृष्ठ २६—३३

५—रिफार्मेटरी या सुधारशाला

सुधारशालाएँ या बिगाड़शालाएँ ?—एक अनुभवी की जाँच—नए ढंग की सुधारशाला । पृष्ठ ३३—३६

६—कैद

कैद की आधिकता—हवालात—सादी और सरल कैद—जेल का जीवन—जेल का वातावरण—एकांगी और पातकी जीवन—जेल समाज के रत्न नहीं—कैद से समाज-विद्रोह बढ़ता है—जेलों में व्यभिचार—रोगी बनने के प्रयत्न—आत्म-हत्याएँ—राजनैतिक कैदी—कैदियों का श्रेणी-विभाजन—जेल-जीवन का, अधिकारियों पर बुरा प्रभाव—जनता पर दुष्प्रभाव—जेल की उपयोगिता की कमौटी—मुक्त होनेवाले कैदियों का जीवन—आर्थिक दृष्टि से विचार—कैदियों की कार्य-पद्धति से नैतिक हानि—कैद की अवधि निश्चित होना—इस पद्धति की तर्कशून्यता—विशेष वक्तव्य । पृष्ठ ३७—५१

७—नजरबन्दी, कालापानी और देश-निर्वासन

नजरबन्दी—राज्य के लिए, दुष्परिणाम—नजरबन्दी की व्यर्थता—कालापानी—कैद से, एक विशेष भेद—नैतिक भोजन का अभाव—कालापानी मृत्यु-दंड से भी बुरा है—स्वभाव-विरुद्ध जुर्म—समाज-रक्षा का विचार—देश निर्वासन—राज्य की दृष्टि से । पृष्ठ ५१—५८

८—फांसी

प्राचीन काल में प्राण-दंड की अधिकता—प्राण-हरण की क्रिया—
लोगों का अन्ध-विश्वास—विचारणीय बात—प्राण-दंड का फल—
प्राण-दंड का निराधार समर्थन—प्राण-दंड के दोष—प्राण-दंड क्रमशः
उठता जा रहा है—आशंका निर्मूल प्रमाणित हुई—इंग्लैण्ड में प्राण-
दंड की व्यवस्था—भारत की बात—म० गांधी के हत्यारों को प्राण दंड ।
सभ्यता का तकाजा ।

पृष्ठ ५६-६६

९—दंड सम्बन्धी सिद्धान्त

दंड का विकास, प्राचीन भारतीय दंड—पद्धति—दंड का आदिम
रूप; बदला—बदले का रूप—बदले पर रोक थाम; कैद और जुर्माना—
दंड के उद्देश्य—दंड रक्षात्मक है ?—दंड अपराध निवारक है ?—
दंड प्रतिफल मूलक है ?—दंड सुधारक है ?—प्राकृतिक दंड का
सिद्धान्त—प्रायश्चित्त का विषय—दंड देने में अपराधी की जाति या
वर्ण का विचार ।

पृष्ठ ७०-८०

१०—दंड नीति की आलोचना

क्या अपराधियों को दंड दिया जाना चाहिए ?—पुरातन मतवादियों
का बोल बाला—दंड नीति के दोष—अपराध शास्त्र का आदेश—एक
शिक्षात्मक घटना—प्राचीन काल में कठोर दंड की व्यवस्था क्यों थी ?—
विशेष वक्तव्य ।

पृष्ठ ८१-८६



दूसरा खंड अपराधों का निदान

११—अपराधों की उत्पत्ति

निदान की आवश्यकता—अपराधों की उत्पत्ति सम्बन्धी विविध विचार-धाराएँ—अपराधों के मुख्य कारण—परिस्थिति और दंड—क्या मनुष्य स्वतंत्र नहीं है ?—अपराधों में नियम-बद्धता । पृष्ठ ८७-९३

१२—आनुवंशिक स्थिति

जन्मजात अपराधी; लोम्ब्रासो का सिद्धान्त—उनके मनोभाव—लोम्ब्रासो के सिद्धान्त से बड़ी-बड़ी आशाएँ—सिद्धान्त का खंडन—खोज का महत्व—अपराध और उत्तराधिकार सिद्धान्त—जरायम-पेशा जातियाँ—सरकारी नियंत्रण और उसका घातक प्रभाव—सुधार की आवश्यकता—विशेष वक्तव्य । पृष्ठ ९३-१००,

१३—मानसिक स्थिति

कार्य के लिए विचार की अनिवार्यता—मानसिक परीक्षा—दुर्बल चित्तता और अपराध, बुद्धिमान अपराधी—मानसिक स्थिति और आत्म हत्या—निकट आत्मीयों की हत्या—बाल-बच्चों की हत्या—अन्य अपराध-स्वार्थ प्रवृत्ति और अपराध—पागल और अपराध । पृष्ठ १०१-१०७

१४—शारीरिक स्थिति

स्त्री-पुरुष भेद—बालकों में अपराध—प्रवृत्ति—आयु का विचार—अस्वस्थता और अपराध । पृष्ठ १०७-१११

१५—प्राकृतिक परिस्थिति

सर्दी-गर्मी और अपराध—प्राकृतिक अवस्था और आत्म-हत्या—
प्राकृतिक स्थिति और सभ्यता । पृष्ठ १११-११३

१६—आर्थिक परिस्थिति

मंहगाई और अपराध—गरीबी से अपराध—बेकारी में अपराध—
चोरी, लूट-मार आदि—धोखेबाजी—रिश्वतखोरी—ऋण सम्बन्धी
मामले—आर्थिक विषमता का घातक प्रभाव । पृष्ठ ११४-११६

१७—सामाजिक परिस्थिति

सामाजिक परिस्थिति और अपराध—धन का आदर और गुणों की
अवहेलना करने वाला समाज—विवाह शादी के अपरिमित व्यय के
कारण होने वाले अपराध—अन्य सामाजिक अपव्यय के दुष्परिणाम—
सामाजिक प्रथाओं के कारण होने वाले अपराध—हिन्दू समाज में
विधवाएँ—एक मामला—फैसले पर विचार—दूसरा उदाहरण—कुछ
विचार । पृष्ठ ११६-१२७

१८—राजनैतिक परिस्थिति

राजनैतिक अपराध—राजनैतिक कैदी—भगतसिंह-फांसी-नाटक—
म० गांधी-हत्याकांड-अभिनय—कानून और अपराध । पृष्ठ १२८-१३१

१९—‘धर्म’ और अपराध

धर्म के नाम पर—अनिष्टकारी प्रभाव—धर्म और सामाजिक कुरी-
तियाँ—धार्मिक अन्ध-विश्वास और अपराध—धार्मिक असहिष्णुता और
अपराध—नास्तिकता और अपराध—दूसरा पक्ष—विशेष वक्तव्य ।

पृष्ठ १३१—१३८

२०—सभ्यता और अपराध

सभ्यता से अपराधों का ह्रास—दूसरा पहलू—आधुनिक सभ्यता—
नगरो का प्रभाव—कल-कारखानों का प्रभाव—धन की अत्यन्त प्रतिष्ठा—
बच्चों की चोरी—आत्म-हत्या—‘सभ्यता पूर्वक’ धनापहरण—आगध-
वर्द्धक मनोरञ्जन । पृष्ठ १३८—१४४

तीसरा खण्ड

अपराध—निवारण

२१—घर का कार्य

अपराध-निवारण का कार्य—माता-पिता का उत्तरदायित्व—कुछ
विचारणीय उदाहरण—माता-पिता बालक की संगति का ध्यान रखें—
एक शिक्षा-प्रद कहानी—बालकों के संरक्षक ध्यान दें—अमरीका का
अनुभव । पृष्ठ १४५—१५१

२२—शिक्षा का प्रभाव

शिक्षा और अपराध—आधुनिक शिक्षा-पद्धति—शिक्षा-प्रचारकों के
ध्यान देने की बात—वर्तमान अवस्था में शिक्षकों का विशेष उत्तर-
दायित्व—शिक्षा-प्रणाली और शारीरिक दंड—विद्यार्थियों की प्रतिष्ठा—
उत्तरदायित्व द्वारा चरित्र-निर्माण—प्रौढ़ शिक्षा और अपराध निवारण—
धर्म और विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा । पृष्ठ १५२—१५६

२३—समाज का कर्त्तव्य

समाज का रीति-रिस्म सम्बन्धी कर्त्तव्य—अनाथ बालकों के लिए

सहायक संस्थाएँ—निर्धन आदमियों के लिए संस्थाएँ—सामाजिक व्यवहार; जाति बहिष्कार—समाज और सभ्यता सम्बन्धी विचार ।

पृष्ठ १६०—१६४

२४—राज्य का कर्तव्य

राज्य का उत्तरदायित्व—राज्य का शिक्षा सम्बन्धी कार्य—साहित्य-सम्बन्धी कार्य—आर्थिक सुव्यवस्था—नैतिक विचारों का प्रचार—कानून की उपयोगिता—शासन व्यवस्था में जनता का भाग—राष्ट्रीय कार्यक्रम—विश्व-नागरिकता—कैद से छूटे हुएों की सहायता । पृष्ठ १६५—१७४



चौथा खंड

वैज्ञानिक अपराध-चिकित्सा-पद्धति

२५—अपराधों का वर्गीकरण

प्राक्कथन—वर्गीकरण की कठिनाई—कुछ प्रचलित वर्गीकरण—विचारणीय वर्गीकरण;—प्रत्यक्ष मार्जजनिन अपराध—परोक्ष मार्जजनिन अपराध—व्यक्तिगत अपराध—राष्ट्रीयता का भेद-भाव अनुचित है ।

पृष्ठ १७५—८१

२६—अपराधियों के भेद

(१) पागल अपराधी—अपराध-मूलक पागल पन के विशेष रूप—हिस्टीरिया या उन्माद—(२) साधारण अपराधी—(३) अभ्यस्त अपराधी—(४) आकस्मिक अपराधी—(५) भावुक अपराधी ।

पृष्ठ १८१—१८६

२७—अपराधियों की जांच

वैज्ञानिक जाँच की आवश्यकता—जांच का दृष्टान्त—विचारणीय बातें; पूर्व इतिहास और मनोवैज्ञानिक स्थिति—ज्ञान—बोली—स्मरण-शक्ति आदि—लिखावट—बस्त्राभरण—शारीरिक जांच—जांच का उपयोग—स्वर्च का प्रश्न—अपराधियों की पहिचान—अपराधियों की खोज ।

पृष्ठ १८६-१३

२८—अपराधी—सुधारक संस्थाएँ

जेल या अस्पताल—जेलों का सुधार—वर्मिघम जेल में सामाजिक वृत्ति—बोस्टल—इगलैण्ड के बोस्टल—भारत के बोस्टल कनाडा का आदर्श जेल—संयुक्त राज्य अमरीका की व्यवस्था—रूस में कैदियों से व्यवहार—विचारणीय बात—कैदियों का पारस्परिक भलाई संघ—उपर्युक्त योजना पर विचार—सरकारों का कर्तव्य ।

पृष्ठ १६४-२०३

२९—अपराधों की वैज्ञानिक चिकित्सा

प्राक्थन—बाल—अपराधियों का विचार—नवयुवक—अपराधियों का विचार—बालिग अपराधियों का विचार—स्त्री-अपराधियों का विचार—भावुक अपराधियों का विचार—आत्म-हत्या करनेवालों का विचार—शारीरिक कारणों से अपराध करनेवालों का विचार—मानसिक कारणों से अपराध करनेवालों की चिकित्सा—प्रोवेशन और पेरेल—अभ्यस्त अपराधी—वैज्ञानिक योजना का प्रयोग—अपराधी संसार का भविष्य—उपसंहार ।

पृष्ठ २०४-२२०

३०—अपराध-चिकित्सा के सूत्र

पृष्ठ २२०-२२३

सहायक पुस्तकों की सूची

पृष्ठ २२४



प्रथम खंड

वर्तमान अपराध चिकित्सा



पहला परिच्छेद

विषय प्रवेश

—:०:—

“जिस प्रकार किसी स्थान में होने वाले शारीरिक रोगों से वहां की प्राकृतिक जलवायु का अनुमान होता है, उसी प्रकार अपराध रोग हमारे नैतिक जलवायु के मापक हैं।”

नव-निर्माण और अपराधी—संसार में नयी सृष्टि का निर्माण हो रहा है। हम बात-बात में नये विचारों का आह्वान कर रहे हैं, केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक और शिक्षा सम्बन्धी सभी विषयों में उथल-पुथल दिखायी दे रही है। तुच्छ से तुच्छ वस्तु को उपयोगी बनाने का उद्योग हो रहा है, फिर पतितों और दलितों को उठाने की तो बात ही क्या है। इस प्रकार की प्रोत्साहना हो गयी है कि अब कोई न ‘नीच’ कहा और, न समझा जायगा। निम्न श्रेणियों के उत्थान की शुभ सूचना मिल चुकी है।

ऐसी परिस्थिति में क्या यह उचित या क्षम्य है कि अपराधियों के विषय में कुछ विशेष विचार न किया जाय ? जिस पद्धति से अब तक उनके साथ व्यवहार होता आया है, उसकी सार्थकता या निरर्थकता की जांच न की जाय ? जब कि प्राचीन धर्मशास्त्रों की नये सिरे से आलोचना और प्रत्यालोचना आवश्यक समझ ली गयी है, तो क्या दण्ड-शास्त्रों को अछूता ही छोड़ दिया जाय ? अपराधियों की वर्तमान संख्या तथा अपराधों की गुरुता क्या हमारे लिये लज्जाजनक नहीं है ? और, क्या उस लज्जा के निवारण के लिये यही पर्याप्त या उचित है कि छोटे-मोटे अपराध करनेवाले बालकों को बेंत की सजा से निर्लज्ज और दुस्साहसी बनाया जाय, और युवकों को सर्व-साधारण से पृथक् करके, जेल की चारदीवारी में बन्द करके और भी अधिक विकृत होने दिया जाय, तथा गुरुतर अपराधियों को और भी ज्यादा फासले पर, कालेपानी में ले पटका जाय ? क्या, यह कुछ विचित्र बात नहीं है कि हम एक ओर तो निकम्मी से निकम्मी, दुर्गन्ध-युक्त, सड़ी-गली, कूड़े-ककट की वस्तुओं को भी काम में लाकर अपने विज्ञान का अभिमान करते हैं, और दूसरी ओर प्रति वर्ष अनेक (हत्या या राजद्रोह आदि के) अपराधियों को फांसी के तख्ते पर चढ़ा कर, उन्हें उपयोगी बना सकने के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता और अल्पज्ञता को भयंकर रूप से घोषित करते हैं ! क्या, हम कभी शांति से यह विचार करने बैठते हैं कि ये अपराधी भी मनुष्य हैं, हमारी ही (मानव) जाति के हैं, हमारे ही भाई-बहिन हैं। ये अपराधी क्यों हुए ? अथवा, इनकी अपराध करने की मनोवृत्ति को बढ़ने और फलने-फूलने का अवसर क्यों मिला ? उसका सुधार कैसे हो ?

अपराध किसे कहा जाता है—अपराध की परिभाषा के सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा। साधारण सरल भाषा में अपराध ऐसे कार्य को कहते हैं, जिसके लिये राज्य के कानून से दंड देने की व्यवस्था हो।

राज्य किसी व्यक्ति को तब ही दण्ड देता है, जब कि वह उसे कोई ऐसा कार्य करते पाता है, जिससे दूसरे व्यक्ति की [या समाज की] हानि हो, या कोई अन्य व्यक्ति उसके विरुद्ध अपनी हानि का अभियोग चलावे, और वह अभियोग प्रचलित कानून के अनुसार प्रमाणित हो जाय। इससे स्पष्ट है कि कोई कार्य अपराध प्रायः उसी दशा में माना जाता है, जब उसका सम्बन्ध अपराध करनेवाले के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति से, या समाज से भी हो। उदाहरणार्थ यदि कोई आदमी एक ऐसी चीज अधिकार में करले जो किसी व्यक्ति या संस्था की न हो, जिसका कोई दावेदार नहो, जिसके लिये कोई अभियोग न लगाए, तो उसे 'अपराध' की श्रेणी में नहीं गिना जायगा। इसी प्रकार जो कार्य दूसरों को मालूम न हों, वे नैतिक दृष्टि से बुरे होने की दशा में भी 'अपराध' नहीं माने जायेंगे। ऐसे कार्यों को अधर्म या पाप कह सकते हैं। डाक्टर ग्रिफ़थ ने कहा है कि सभी कानून नीति के सिद्धान्तों पर नहीं बने होते, और सभी गुनाह नीति की दृष्टि से भ्रष्ट नहीं होते; गैर-कानूनी होना और बात है, तथा अनीतिमान होना और बात।

अस्तु, अपराध ऐसे कार्य को माना जाता है जिसके करनेवाले को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता है। परन्तु क्या दण्ड पाने वाले सब व्यक्ति वास्तव में अपराधी, और दण्ड न पाने वाले सब निरपराध होते हैं ?

कोन नहीं जानता कि आजकल के ज़माने में अनेक अपराधों की पुलिस में भूठी रिपोर्ट दी जाती है; और, जिन अपराधों की सच्ची रिपोर्ट हो जाती है, उनके लिये भी दण्ड मिलना न मिलना बहुत कुछ संयोग और विशेष कारणों पर अवलम्बित होता है। आधुनिक न्याय-प्रणाली में जो व्यक्ति अच्छे वक़ीला कर सकता है, अच्छे प्रतिष्ठित गवाहों का तथा अन्य प्रकार का खर्च सहन कर सकता है, उसके मुक्त होने की बहुत संभावना रहती है। इसके विपरीत, साधारण स्थिति के निर्धन आदमियों का छुटकारा पाना कठिन होता है। इस प्रकार, यद्यपि सिद्धान्त

से कानून के सामने धनी-निर्वन समान हैं, परन्तु व्यवहार में धनवानों को दण्ड से बचने की जितनी सुविधाएं प्राप्त होती हैं, उतनी निर्धनों को नहीं होतीं ।

यह स्पष्ट है कि न तो दण्ड पाने वाले सब व्यक्तियों का अपराधी होना आवश्यक है; और न यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति दंडित नहीं होते, वे सब निरपराधी ही होते हैं । वास्तव में किसी समय में किसी देश में कितने अपराधी हैं, इसका हिसाब कभी भी ठीक-ठीक नहीं लगाया जा सकता । संसार जिन आदमियों को खुले-आम अपराधी कहता या समझता है, उसमें से कितने ही व्यक्ति निर्दोष हो सकते, और होते हैं । इसके विपरीत, अनेक व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से भले आदमी दीखते हुए भी वास्तव में अपराधी हैं; और कुछ दशाओं में ऐसे अपराधी हैं कि यदि उनका रहस्योद्घाटन हो जाय तो वे अन्य अनेक अपराधियों की अपेक्षा कहीं अधिक तिरस्कृत माने जाय । परन्तु यह तो आधुनिक न्याय-व्यवस्था की एक न्यूनता की बात हुई । इस में क्रमशः सुधार का विचार किया जा रहा है; इसके सम्बन्ध में हमें यहाँ विशेष बक्तव्य नहीं है । यहाँ हमारा मुख्य विषय अपराध है, और उमी के विषय में कुछ विशेष विचार करना है ।

कुछ विशेष बातें— अपराध की पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार, कुछ बातें अपवाद-स्वरूप मालुम हो सकती हैं । उनका विचार कर लेने से विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा । उदाहरणार्थ एक आदमी आत्म-हत्या करना चाहता है । वह और किसी का तो कुछ नहीं बिगाड़ता । फिर, क्या राज्य उसे ऐसा करने देगा ? या उसका यह कार्य अपराध माना जायगा ? बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य का एक अंग माना जाता है, इसलिये जो व्यक्ति आत्म-हत्या का प्रयत्न करता है, वह राज्य की हानि करता है; इसलिये उसका यह कार्य अपराध समझा जाता है ।

अच्छा, यदि राज्य का प्रत्येक व्यक्ति उसका अंग है, तो क्या प्रत्येक व्यक्ति के समय-शक्ति और द्रव्य पर राज्य का अधिकार है ? क्या किसी को इन के खर्च करने में कुछ स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए ? अथवा, जो व्यक्ति इनका दुरुपयोग करे, वह अपराधी माना जाना चाहिए ? इस विषय में बहुत मतभेद है। और, भिन्न-भिन्न देशों में आमदनी पर लगने वाला अतिरिक्त आय-कर, मृत्यु-कर (विरासत-कर), तथा विलासिता के पदार्थों पर लगनेवाले करों का लगाया जाना कुछ अंश में सरकारी नियंत्रण का कार्य कहा जा सकता है; रूस आदि कुछ देशों में तो यह नियंत्रण बहुत अधिक होने लगा है। तथापि यह स्पष्ट है कि पूर्ण नियंत्रण न सम्भव ही है, और न अभीष्ट ही।

अब एक दूसरे प्रकार के उदाहरण पर विचार करें। किसी राज्य का एक सैनिक दूसरे राष्ट्र के आक्रमणकारी नागरिक की, अथवा अपने ही राज्य के विद्रोही नागरिक की, हत्या करता है। क्या यह कार्य अपराध माना जायगा ? इस सम्बन्ध में बात यह है कि अभी तक राज्यों में ऐसी भावना नहीं हुई है कि वे दूसरे राज्यों के आदिमियों के जीवन-अधिकार को उस दशा में भी मान्य करें, जब कि उनमें पारस्परिक युद्ध हो। इसी तरह राज्य अपने आदिमियों में से भी जिन को विद्रोही समझता है, उन्हें अपना नागरिक नहीं मानता, तथा उन्हें दंडित करता है। इसलिये जो सैनिक इन्हें मारते हैं, वे हत्या के अपराधी नहीं माने जाते, वरन् अपना राजकीय कर्तव्य पालन करते हुए समझे जाते हैं।

अपराध और सामाजिक जीवन—पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अपराधों का, मनुष्यों के सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलग-अलग रहनेवालों, एकांगी जीवन बिताने वालों का कोई कार्य, नैतिक दृष्टि से निन्द्य होते हुए भी, अपराध नहीं माना जाता वे स्वच्छाचारी होते हैं, जिस चीज या पशु आदि को चाहें ग्रहण कर सकते

हैं, और उसे अपनी इच्छानुसार काम में ला सकते हैं। उनके स्वामित्व का क्षेत्र उनकी शक्ति पर निर्भर होता है; जो कुछ उनकी पहुँच में आजावे वह सब उनका है, कोई दूसरा उस पर अपना अधिकार नहीं जता सकता, जब तक कि अपने शारीरिक बल से उसमें उसे छीन लेने की हिम्मत न हो। मनुष्यों के समाज का अंग बन जाने पर यह स्थिति बदल जाती है। फिर, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निर्धारित सम्पत्ति, जायदाद-मकान या खेत आदि होते हैं, दूसरा उसे ले नहीं सकता; लेने की बात तो दूर रही, कोई किसी के घर या बाग आदि में घुस भी नहीं सकता, जब तक कि उसके स्वामी की स्वीकृति या अनुमति न हो। यदि कोई दूसरे की वस्तु का अनधिकार-पूर्वक उपयोग करेगा, दूसरों के हित में अनुचित बाधा डालेगा, या दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप करेगा तो उसका यह कार्य कानून की पकड़ में आजायगा, यह अपराध माना जायगा। इससे स्पष्ट है कि अपराधों की गणना, सामाजिक जीवन में ही होती है। अपराध वे ही कार्य होते हैं, जो दूसरों के उचित या न्याय्य समझे जाने वाले हित में बाधक हों।

असाधारण अवस्था; समाज हितकर अपराध (?)—

हमने कहा है, कि अपराध मनुष्यों के वे कार्य हैं जो समाज-हित में बाधक हों। परन्तु यह बात साधारण अवस्था के लिये ही है। कभी-कभी इस के विपरीत अनुभव होता है; अर्थात् यह सम्भव है कि कोई आदमी शिक्षा, परिस्थिति या स्वतंत्र चिन्तन आदि के कारण ऐसे कार्य करे जो प्रचलित कानून के विरुद्ध हों, परन्तु जिन्हें वह (तथा अंशतः जन-समुदाय) समाज-हितकारी ही समझे। उदाहरणार्थ एक आदमी अपने देशकी शासनपद्धति को दूषित मानता है, और उस पद्धति में यथेष्ट सुधार करने की जो विधि कानून से निर्धारित है, उसे भी अपर्याप्त समझता है। वह ऐसे कार्यक्रम का अवलम्बन करता है, जो तत्कालीन कानून से अनुमोदित नहीं है। इस दशा में वह 'अपराधी' माना जाता

है, चाहे उसमें उसका व्यक्तिगत या पारिवारिक स्वार्थ कुछ भी नहीं है, और उसके कार्य से अन्ततः समाज का बड़ा हित ही क्यों न हो। ऐसे “अपराधियों” को दण्ड देना वास्तव में समाज की, तथा उसके नियुक्त मैजिस्ट्रेटों की एक शोचनीय त्रुटि है।

अपराध न समझे जानेवाले दुष्कृत्य—इसी प्रकार अनेक बार ऐसा भी होता है कि कुछ कार्य समाजघातक होते हुए भी किसी विशेष स्थिति में अपराध नहीं माने जाते। मध्यकालीन योरोप में अनेक धर्माधिकारियों एवं शासकों ने अपने धार्मिक जोश या उन्माद में अन्य मतों के अनुयाइयों पर भयंकर अत्याचार किये और समाज को भारी क्षति पहुँचायी। उन के कार्य तत्कालीन परिस्थिति में गैर कानूनी या अपराध नहीं माने गये।

आधुनिक काल में भी लोगों के कई कार्य ऐसे हैं, जो समाज के लिये हानिकर हैं, अथवा बुरे दृष्टान्त उपस्थित करने वाले हैं, परन्तु वर्तमान सभ्यता में उन्हें न्यायानुमोदित मान लिया गया है; उदाहरणवत् कुछ स्वामिमात्रों या नियमों का ध्यान रखते हुए नशेवाजी, वेश्यागमन, घुड़दौड़, लाटरी या मट्टेवाजी करना, तथा अनिश्चय अत्युक्ति-पूर्ण विज्ञापन वाजी करके जनता का धन लूटना, आदि अपराध नहीं माने जाते।

अपराधों के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ—कोई कार्य ऐसा नहीं है, जिस का करना सब देशों में या सदैव अपराध माना गया है, या अत्र माना जाता हो। समाज में कहीं-कहीं कई जातियों में रिश्ते में हिन लगने वाली स्त्री से विवाह कर लिया जाता है। स्त्रियों का पुनर्विवाह अनेक आदमी बहुत नापसन्द करते हैं, तो कितनी ही जगह एक स्त्री के एक ही समय में कई-कई पति रहे हैं; एवं इस समय भी होने के उदाहरण मिल जाते हैं। यूनान में पहले बहुत समय तक कुरूप बच्चों को तथा राजपूताने में नव-जात बालिकाओं को मार डालने की रीति प्रचलित

रही है। उस समय वहाँ के निवासी, उसे पाप या अपराध नहीं मानते थे। एक समय था, जब यूनान का राज्य आदिमियों को चोरी करने को खुली इजाजत देता था। इससे उसे आशा थी कि नागरिकों में साहस और स्फूर्ति आयेगी, तथा लोगों में अग्रिमित धन-संग्रह करने की प्रवृत्ति न होगी। रोम में बहुत समय तक पिता को अपने पुत्र के बालिग होने पर भी, उसके जान-माल पर पूर्ण अधिकार होता था। यदि पिता अपने पुत्र का बंध कर देता तो वह अपराधी नहीं माना जाता था। बहुत सी जातियों में आदमी, अपनी लड़कियों तथा लड़कों के वास्तु उनकी स्वीकृति लिये बिना ही और बहुधा उनकी स्पष्ट सम्मति की नितांत अवहेलना और विरोध तक करके, वग-वधु निश्चित कर देते हैं। संसार में, अनेक देशों में बहुत समय तक लड़के-लड़कियों तथा पुरुषों और स्त्रियों का क्रय-विक्रय पशुओं तथा अन्य वस्तुओं की भाँति होता रहा है। दास और बेगार-प्रथा प्रचलित रही है, और कुछ जगह भेष बदल कर थोड़ी-बहुत मात्रा में इस समय भी विद्यमान है। राजा या सरदार कहीं-कहीं युद्ध में बन्दी किये हुए व्यक्तियों के जान-माल और चरित्र पर मन चाहा आघात करते रहे हैं।

अपराध की परिभाषा करने में कठिनाई—इन बातों से स्पष्ट है कि अपराध का क्षेत्र समय-समय पर कैसा और कदा तक घटता-बढ़ता रहा है। वास्तव में कोई बात अपराध है या नहीं, इसका निश्चय करने का कोई निर्धारित सिद्धान्त नहीं है; किसी राज्य के तत्कालीन नियमों का विचार करके ही, इसका निश्चय किया जाता है। किसी राज्य में, किसी खास समय में जो बात समाज विरोधी मानी जाती है, उसे वहाँ उस समय अपराध कहा जाता है। यह कथन भी एक सीमा तक ही ठीक है; कारण, प्रायः सारे समाज के हानि-लाभ का विचार कभी नहीं किया जाता; समाज में जिस श्रेणी का प्रभुत्व होता है या जिसके हाथ में सत्ता होती है उसी के हित को लक्ष्य में रखकर

कानून द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि को-सा कार्य अग्रगण्य है, और उसके लिए कैसा या कितना दंड दिया जाय।

जहाँ तक अग्रगण्यता का सम्बन्ध है, समाज में शासित श्रेणियों के हित का विचार प्रायः उन्नीसवीं शताब्दी तक किया जाता है, जहाँ तक उसके शासक श्रेणी के हित का विरोध न हो, या दोनों के हित एक ही बात में हों। कहीं शासक और कुछ शासित जुदा-जुदा जातियों के होते हैं, कहीं अलग-अलग वर्ण या रंग के और कहीं जुदा-जुदा आर्थिक विचार-धाराओं के। ऐसी दशा में शासितों का जिस कार्य को करना, शासकों के स्वार्थ में बाधक हो, वही अपराध है। शासक श्रेणी का रूढ़ समय-समय पर बदलता रहने से अपराध का अर्थ या क्षेत्र बदलता रहता है, अपराध की कोई सार्व-देशिक और सार्वकालिक परिभाषा नहीं हो सकती।

साधारण अपराध—ऊपर कहा गया है कि प्रायः शासक श्रेणी के हित को लक्ष्य में रख कर ही अपराध और दंड का विचार किया जाता है। स्मरण रहे कि सभी शासक श्रेणियों के कुछ समान स्वार्थ होते हैं, और कितनी ही बातें ऐसी भी होती हैं जिनमें शासक और शासितों के हित का विरोध नहीं होता, अर्थात् दोनों का ही हित होता है। इसलिये प्रायः सभी देशों में कुछ कार्य समान अपराध माने जाते हैं। हाँ, समय-समय पर इनमें कुछ अन्तर होता रहता है। अपराधों के वर्गीकरण के विषय में विस्तार पूर्वक आगे एक स्वतंत्र परिच्छेद में लिखा जायगा।

प्राचीन और आधुनिक अपराध—प्राचीन काल के तथा आधुनिक अपराधों में एक उल्लेखनीय अन्तर है। पहिले आदमी प्रायः जंगली तरीके से और लुरी आदि के बल से अपने अपराध-कार्य किया करते थे, जिनका रूप अधिकतर हिंसात्मक होता था। यद्यपि इस समय भी लोगों की प्रकृति में पूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है, और वह शारीरिक बल का प्रयोग किया करते हैं, तथापि अब वे आधुनिक परिस्थितियों

से प्रभावित हो रहे हैं, वे अपने अपराध कार्य सम्पत्ता-पूर्वक, लूल कपट, धोखे बाजी, मक्कारी आदि से अधिक करते हैं। अपराधियों के अस्त्र अब भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, वाइसिकल, मोटरकार और कहीं-कहीं हवाई जहाज आदि भी हैं। बड़े-बड़े शहरों में जिस ढंग से दिन दहाड़े, बात की बात में हजारों रुपया ठग लिया जाता है, उसका बृतान्त बड़ा मनोरंजक है, उसमें पाठकों को शेवचिन्नी की कहानियों का सा आनन्द मिल सकता है।

अपराध एक प्रकार का रोग है—संसार में मनुष्यों को होने वाली विविध बीमारियां हैं। कुछ बीमारियां ऐसी भी हैं, जिनका प्राचीन साहित्य में उल्लेख नहीं पाया जाता। सम्भव है, वे बीमारियां उस समय बहुत कम रही हों, अथवा न भी होती हों; आधुनिक काल की बदलती हुई परिस्थिति में ही उनका प्रादुर्भाव या विकास और वृद्धि हुई हो; परन्तु अनेक पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि अपराध भी एक प्रकार की बीमारी है। जिस प्रकार सर्दी, गर्मी, प्रकाश, संयम और विश्राम आदि की न्यूनता या अधिकता से, अथवा भोजन, जलवायु आदि के दूषित होने से, मनुष्यों को खांसी बुखार, पेचिश, हैजा आदि विविध बीमारियां घेर लेती हैं, उसी प्रकार प्रायः सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक अथवा धार्मिक मत-मतांतर सम्बन्धी परिस्थिति के कारण लोगों में अपराध रूपी रोग लग जाता है, अथवा बढ़ जाता है।

यद्यपि अभी तक बहुत थोड़े आदमियों ने इस विषय पर कुछ गम्भीर विचार किया है; नवीन युग की यह घोषणा है कि अपराध भी एक प्रकार का रोग है, और अन्य रोगों की भाँति इसका वैज्ञानिक पद्धति से विचार—नदान और चिकित्सा होनी चाहिए।

दूसरा परिच्छेद

चिकित्सा-शैली और चिकित्सक

— :०: —

‘यह तर्ज ऐहमान करने का, उन्हीं को जेब देता है ।

मर्ज में मुवतिला करके, मरीजों को दवा देना ॥

पहले बताया जा चुका है कि अग्रगण्य भी एक प्रकार का रोग है । इस रोग का निवारण और चिकित्सा किस प्रकार होनी चाहिये, इस विषय पर विचार करने से पूर्व, यह जान लेना अच्छा है कि आज कल इसकी चिकित्सा किस प्रकार, और कैसे कैसे चिकित्सकों द्वारा, की जाती है ।

वर्तमान चिकित्सा-पद्धति— हम देखते हैं कि प्रायः बुद्धिमान वय या डाक्टर रोगी को, उसके बीमार होने का बहुत कम विचार करने देते हैं । जबकि लोभी, अल्पज्ञ अथवा कम अनुभवी चिकित्सक मामूली सी बीमारी को भी बहुत भयंकर बतलाया करते हैं, और इस प्रकार अपने भ्रम के लिये रोगी से अधिक द्रव्य ऐंठना चाहते हैं, समझदार इलाज करनेवाले सज्जन किसी बड़े रोग से रूझ व्यक्तियों को भी यही कहा करते हैं, ‘तुम तो भले चंगे हो, तुम्हें कुछ बीमारी नहीं है, और जो तुम्हें मालूम भी होती है तो यह सहज ही हट जायगी ।’ इन अनुभवी चिकित्सकों की औषधी की मात्रा भी बहुत कम होती है । इनकी औषधी प्रायः रोगी को औषधी मालूम नहीं होती । ये रोगी का ध्यान रोग की तरफ

हटा कर अन्य बातों की तरफ लगा देते हैं, उसका मनोरंजन करते हैं, और प्रायः बहुत जल्दी उसका हित-साधन करने में सफल हो जाते हैं।

इन बातों को अपराध-चिकित्सा के सम्बन्ध में स्मरण रखना आवश्यक है। अधिकारियों के व्यवहार या वर्तव्य द्वारा अपराधी को हर-दम यह याद कराते रहने की झिलकुल जरूरत नहीं है कि वह अपराधी है और उसके सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है; अर्थात् अपराधी के सुधार का कार्य प्रत्यक्ष होकर बहुत-कुछ परोक्ष रीति से होना चाहिये। इसमें जोर-जबरदस्ती का कुछ काम नहीं। हम बहुधा देखते हैं कि दूसरों के कहने सुनने या बल-प्रयोग से बहुत से आदमी अपना स्वभाव या आदतें नहीं बदलते। जब उनके मन में कोई बात जँच जाती है और वे स्वयं अपना सुधार करते हैं, तभी वास्तव में सच्चा और कुछ स्थायी सुधार होता है। बल-पूर्वक सुधार करने के प्रयत्न में विशेष सफलता नहीं मिलती, और यदि कुछ सुधार होता भी है तो वह क्षणिक होता है।

प्रेरक हेतु का विचार नहीं किया जाता— आज कल अपराध-चिकित्सा के विषय में यही सोचा जाता है कि क्या अपराध किया गया और उसके करने में अपराधी का इरादा क्या था; परन्तु इस बात का प्रायः विचार नहीं किया जाता कि अपराधी के उस कार्य के करने की प्रेरणा कहाँ से, किस बात से हुई। प्रेरक हेतुओं पर ध्यान न देकर, अपराधियों को दण्ड देना नितान्त अनुचित और नीति-विरुद्ध है। ऐसा मालूम होता है कि संसार का वर्तमान कानून विशेषतया दण्ड देने पर ही तुला हुआ है। किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक आदि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़कर, आदमी विविध अपराध करने को बाध्य हो जाते हैं, यह बहुत सोच-विचार का विषय है। यहां पर हमें यही कहना है कि यदि संसार में प्रेरक हेतुओं का सम्यक विचार हुआ करे तो बहुत से आदमी अपने 'अपराध' के उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकते हैं। परन्तु वर्तमान अपराध-चिकित्सा में ऐसे विचारों की गुन्जायश नहीं होती।

कानून बहुत से कार्यों के बाह्य रूप-रंग को देख कर ही उन्हें 'अपराध' करार दे देता है।

आधुनिक अपराध-चिकित्सक—प्रत्येक राज्य में रोगियों के इलाज करने का काम उन्हीं व्यक्तियों के सुपुर्द किया जाता है जिनकी योग्यता और अनुभव के विषय में सरकार को यथेष्ट विश्वास हो। इस बात का भी यथा सम्भव नियंत्रण किया जाता है कि निजी तौर पर इलाज करनेवालों में भी कोई अनाड़ी या अनुभवहीन न हो; परन्तु विविध देशों की सरकारें अपराध-रोग की चिकित्सा के लिये कैसे आदमियों की नियुक्ति करती हैं? वर्तमान काल में इस विभाग के मुख्य कार्यकर्ता पुलिस, वकील, जज, जेलर, सुपरिन्टेन्डेन्ट, और जेल के पहरा (वार्डर्म) होते हैं। आओ! इनकी योग्यता का विचार करें।

पुलिस—अपराधियों को गिरफ्तार करने वाली पुलिस की 'योग्यता' के बारे में सब जानते हैं। अनेक देशों में 'पुलिसमेन' बनने के लिये, किमी विशेष योग्यता की आवश्यकता ही नहीं होती। बहुत से स्थानों पर, इस पद के लिये ऐसा ही व्यक्ति उपयुक्त समझा जाता है, जो उच्च पदाधिकारियों की इच्छानुसार जनता के साथ क्रूर से क्रूर व्यवहार करने में मन्त्रोच्च नहीं करता। जिस प्रकार सफाई का डाक्टर (हेल्थ आफिसर) समय-समय पर कुओं में लाल दवाई (पोटेशियम परमेगनेट) डालते रहते हैं, पुलिस वाले जनता पर अपनी लाल वर्दी, कठोर शब्दों की बौछार लाठी-मार आदि से आतङ्क-वर्षा किया करते हैं, और, जिन व्यक्तियों पर अपराध करने का कुछ भी संदेह हो, उन पर तो अधिक मेहरबानी करना इनका कर्तव्य ही होता है। इसे पालन करके वे अपनी 'योग्यता' का प्रमाण दिया करते हैं।

वकील—आज-कल अदालतों में गवाह कितनी सच्चाई ईमानदारी से अपना बयान देते हैं, यह सर्व-साधारण से छिपा नहीं। अदालत

का चपरासी यंत्र की तरह गवाहों को धर्म और ईमान की सौगन्ध दिला देता है। गवाह तो पहिले से ही अपने-अपने पक्ष के वकीलों से पूरा पाठ पढ़कर जाते हैं, और वकीलों का तो उद्देश्य ही यह होता है कि जैसे बने अपने मुकदिल की जीत करायें, जो उनकी जेब भरे, शायद जिससे कुछ प्राप्ति पहले ही पेशगी के रूप में हो चुकी है।

साधारणतया क्या कोई वकील कभी यह चाहेगा कि राज्य में अपराध कम हुआ करें? यदि वह ऐसी कामना करेगा तो फिर वह खायेगा ही क्या? मुकदमेवाजी घट जायगी, तो उसकी आमदनी मारी जायगी। मुकदमा लड़ाना उसका रोजगार है। किमी का इनसाफ हो या न हो, उसे तो मुख्य चिन्ता इस बात की रहती है कि उसका रोजगार चलता रहे, और इसके लिये यह आवश्यक है कि सर्व-साधारण पर उसकी यह धाक जम जाय कि वह अपने वाग्जाल और धुँआधार भाषण से न्यायाधीश को भ्रम में डालने में अन्यन्त कुशल है। वर्तमान दशा में प्रायः वकील जनता को अधिकाधिक निर्धन, तथा अपराधियों को और अधिक अपराधी, बनाकर सरकारों की झूठी शान बढ़ानेवाले होते हैं। ऐसे रोजगारी अपराध-चिकित्सक किसी देश में जितने कम हों, उतना ही अच्छा होगा।

जज—जज निष्पक्ष होने पर भी कानून से तो बँधा ही होता है। वकीलों ने यदि अपने वाग्युद्ध अर्थात् भाषण-चातुर्थ से भूठे को सच्चा कर दिखाया है; तो जज महोदय प्रायः उसे सच मानकर, उसके अनुसार फैसला सुनाने पर बाध्य होते हैं। वकीलों की तरह उन्होंने भी कानून का अध्ययन किया है, न कि मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र का; और यदि उन्होंने यह अध्ययन किया भी हो तो यह किसी और समय के लिये रहेगा। न्यायाधीश की कुर्सी पर विराजमान होने की दशा में, उसका बहुत कम उपयोग होने की गुंजायश है। यहाँ तो कानून का आधिपत्य है।

जेलर—जेलों का उद्देश्य समाज-रक्षा बताया जाता है। इससे उनके अधिकारियों का उत्तरदायित्व स्पष्ट है। परन्तु दुःख की बात है कि

समाज को ऐसे रत्नक दिये जाते हैं जो प्रायः उसे अत्यन्त हानि पहुँचाने वाले ही होते हैं। उनकी नियुक्ति के विषय में और चाहे जैसे नियम और कायदों का ध्यान रखा जाता हो, पर उनकी ऐसी योग्यता की परख बिल्कुल नहीं की जाती, जिसकी ऐसे कार्य के लिये विशेष आवश्यकता है। उदाहरणवत् उन्हें मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, तथा दण्ड के सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं होता। उन्हें प्रायः कुछ नियम और कानून ही कण्ठग्र होते हैं। यह दावे से कहा जा सकता है कि चिड़ियाघर में पशु-पक्षियों के रत्नों को जितना ज्ञान और अनुभव उन प्राणियों के विषय में होता है, उतना ज्ञान जेल के अधिकारियों को मनुष्यों के स्वभाव और प्रकृति के विषय में नहीं होता।

जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट—सरकारी माप के अनुसार सुपरिन्टेन्डेन्ट बहुत ही योग्य व्यक्ति होता है। वह प्रायः सिविल सर्जन होता है, जो जिले भर के रोगियों के चिकित्सा सम्बन्धी कार्यों, अस्पतालों और शफा-खानों की देखभाल करता है। चिकित्सा कार्य में वह विशेष योग्यता वाला होता है, अच्छा बढ़िया वेतन और इज्जत पाता है। परन्तु खेद है कि कैदियों के सुधार के लिए इस उच्च पदाधिकारी की योग्यता का बहुधा विशेष उपयोग नहीं होता। प्रायः यह समझा जाता है कि जेलों का संचालन ऐसे व्यक्ति द्वारा, इस लिये कराया जाता है कि वह कैदियों से उनकी शक्ति के अनुसार काम लेगा उनके खाद्य पदार्थों आदि की सूक्ष्म जांच करेगा और उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी विविध उपायों को काम में लाएगा। परन्तु वास्तव में होता क्या है? सुपरिन्टेन्डेन्ट साहय के प्रबन्ध में, बाहरी टीपटाप का खूब ध्यान रखा जाता है। समय पर कैदियों के रहने की जगह की लिफाई-पुतई हो जाती है। कैदियों के अनुशासन की यथेष्ट चिन्ता की जाती है; ऐसा न हो कि कोई कैदी कुछ स्वाभिमान का परिचय दे, जिससे अधिकारियों की मान-प्रतिष्ठा ('प्रेस्टीज') में किसी प्रकार धक्का पहुँचे। कैदियों को जो भोजन दिया जाता है वह बहुत ही घटिया

होने के अतिरिक्त, साफ सुथरा भी नहीं होता। उसमें कूड़ा-कबाग मिला होता है। माग-तरकारी की बात यह है कि उन्हें बहुत-या उन पत्तों और छिलकों आदि पर संतोष करना पड़ता है, जो जेलर आदि द्वारा असली तत्व के ले लिये जाने पर, शेष रहते हैं। यह सब चिकित्सा विशेषज्ञ सुर्गन्टेन्डेन्ट साहब की अधीनता में होता है, जो इसे जेल के निर्धारित माप के अनुसार 'पास' करते रहते हैं।

क्या हमारे ये चिकित्सक अपराधियों के साथ इतनी सहानुभूति दिावा सकते हैं कि कम से कम सप्ताह में एक बार वे कैदियों के भोजन को स्वीकार कर लिया करें, जिससे उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाय कि वहाँ तक स्वास्थ्य-वर्द्धक या स्वास्थ्य-नाराक है।

जेल के पहरेदार (वार्डर्स)—जेल के कर्मचारियों में पहरेदारों का भी खास स्थान है। कैदियों का इनसे विशेष काम पड़ता है। ये प्रायः जेलर आदि बड़े अधिकारियों के मुँह लगे रहते हैं, और उनकी इच्छानुसार कैदियों का अनुशासन करते हैं। इसके लिए इन्हें कुछ मासिक वेतन भी मिलता है। ये बहुत संस्कृत, अच्छे स्वभाव वाले और सुयोग्य होने चाहिये; यह स्पष्ट है। परन्तु होता यह है कि इनके पद के लिये ऐसे आदमी अधिक योग्य समझे जाते हैं, जिनमें दया-भाव न हो, जिनकी प्रकृति कुछ हिंसक हो; जो कैदियों को मनमाने ढङ्ग से मता सकें और उनके द्वारा जेल के अपराधियों की तन से, मन से, एवं यथा सम्भव धन से भी, दृष्टेष्ट पूजा करा सकें।

भारतवर्ष में यह पद प्रायः पुराने कैदियों को दिया जाता है। पुराने कैदी वे ही होते हैं, जिन्होंने गुरुतर अपराध किया है, या जो अपराध करने में अभ्यस्त होते हैं। इनमें जो अपने अपराधों के विश्वास-पात्र बन जाते हैं, उन पर ही अधिकारियों की यह कृपा होती है कि ऐसा उत्तरदायी कार्य सौंपा जाय। कैदियों में कुछ आदमी शिक्षित, सभ्य और सदाचारी भी

होते ही हैं, उन पर इन 'अभ्यस्त अपराधियों' का कैसा हानिकर प्रभाव पड़ता है, यह सोचने का विषय है।

डाक्टर साहब ! पहले अपना इलाज करिये—उपर्युक्त

प्रकार के अपराध-चिकित्सकों की 'योग्यता' आदि का विचार करने पर प्रत्येक विवेकवान मज्जन यही कहेगा कि "इन से किसी 'अपराधी' का क्या सुधार होगा। ये उसे और अधिक न बिगाड़ें, यही बहुत है।" जो आदमी स्वयं लोभ, लालच, क्रोध, प्रतिहिंसा आदि दुर्भावनाओं से युक्त हो, उससे दूसरों के सुधार की आशा करना निरा उपद्रव नहीं तो क्या है।

हमारी 'विश्व वेदना' में बताया गया है कि एक आदमी पावभर अन्न चुगने के अपराध में, घटना-चक्र से जेल में जाता है। वहां वह कहता है "क्या मुझे गिरफ्तार करने वाले पुलिस के सिपाही ने कभी पाव भर अन्न के बग़र भी 'रिश्त' न ली होगी? क्या मेरे विषय में न्याय करने वाले मजिस्ट्रेट ने कभी पाव भर अन्न के बग़र भी 'डाली' आदि की भेंट न ली होगी? जिस जेलर ने मुझे अपनी अधीनता में ग्रहण किया है, क्या वह अपनी छाती पर हाथ रख कर कह सकता है कि उसने उस समय तक कुल मिलाकर जितनी 'ऊपर की आमदनी' पायी है, वह पावभर अन्न की सो-पचास गुना भी न होगी? फिर ये सब कैदी क्यों नहीं? और, मैं ही कैदी क्यों?....." जिन चिकित्सकों के विषयों में 'अपराधी' की ऐसी धारणा हो, उनसे उसका क्या इलाज होना है! अवश्य ही उनसे यह कहना उचित होगा, 'मेहरबान! तुम हमारा इलाज करने चले हो, अच्छा हो, पहले तुम स्वयं अपना तो इलाज कर लो।'

विशेष वक्तव्य—सेवा और परोपकार भाव से प्रेरित, रोगों के कारणों और उनके निवारण के उपायों पर वैज्ञानिक अनुसंधान करने वाले, व्यक्तियों की वृद्धि तो समाज के लिये शुभसूचक ही होती है, परन्तु इसके विपरीत जब पेशेवर स्वार्थी और लोभी आदमी कुछ

उलट्टी-सीधी अधूरी तथा बे-मेल बातें पढ़-सुनकर वैद्यराज बन जाते हैं तो समाज का भारी अहित होता है; ये लोग अपने लोभ तथा अज्ञानवश भोले-भाले आदमियों में मनमानी दवाइयों का प्रचार करते हैं और फल-स्वरूप नये-नये रोगों और बीमारियों की वृद्धि करते हैं।

यही बात अपराध-चिकित्सकों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। आज कल जहाँ देखो, पुलिस, वकील, अदालतों, जजों, जेलरों और कैदखानों का बाहुल्य है। ये व्यापारिक ढंग से काम कर रहे हैं, रुपया पैदा करना, और आतंक जमाना इनका लक्ष्य बना हुआ है। ऐसी चिकित्सा-शैली पर भली-भांति विचार करने से मालूम होता है कि इसके व्यवहार से अपराधों की संख्या घटने के बजाय भयंकर रूप से बढ़ती जाती है। परमात्मा ऐसी चिकित्सा से प्रत्येक राज्य की रक्षा करे।

तीसरा परिच्छेद

बेंत की सज़ा

—:०:—

‘कई अंशों में बेंत फांसी की सज़ा से कहीं रौद्र है; उसमें पशुता का समावेश बहुत अधिक है।’

—‘अर्जुन’

अपराध-रोग की मुख्य औषधि दंड—यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों में समय-समय पर कुछ ऐसे विद्वान होते रहे हैं जिन्होंने अपराध-रोग के निवारण के सम्बन्ध में अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किये हैं, प्रायः

प्रत्येक राज्य ने चिरकाल से इसके लिए दंड का आश्रय लिया है। आज कल भी जब किसी व्यक्ति को अपराधी मान लिया जाता है तो मुख्य प्रश्न उसके लिये दंड निश्चित करने का समझा जाता है। अपराध-रोग की चिकित्सा के लिये दंड-प्रणाली में अत्यन्त विश्वास किया जाता है। इस प्रणाली का समय-समय पर विरोध होने पर भी, दंड की मात्रा या प्रचार में अभी विशेष अन्तर नहीं हुआ है। बात यह है कि सर्व-साधारण में जो चाल या रीति एक बार जारी हो जाती है, वह सदा बिना विशेष आन्दोलन किये, नहीं हटती। लोगों को उसे बनाये रखने का कुछ न कुछ आधार या बहाना मिल ही जाता है। अनेक आदमी तो कुछ विशेष विचार करने का कष्ट ही नहीं उठाते। वे समझते हैं कि जब हमारे पूर्वजों ने यह रीति निकाली है तो इसमें अवश्य कुछ असाधारण गुण होगा, यदि हमें वह गुण दृष्टिगोचर नहीं होता तो यह हमारी अल्पज्ञता है।

दंडों के भेद—

जाते हैं :—

(१) बैत ल

(२) जुर्मान

(३) रिफा

(४) जा

(५) राश

(६)

सूचना देते हुए, मां-बाप के आदेश की अवहेलना करता है, और मां-बाप का कुछ और वश नहीं चलता तो वह उसे थप्पड़ आदि मारते हैं, और इस प्रकार केवल अपने शारीरिक बल से उसका नियन्त्रण करके अपनी अल्पजता का परिचय देते हैं। स्कूल में जब विद्यार्थी की कोई ऐसी बात देखने में आती है जो मास्टर साहब को पसन्द न हो, या जिससे स्कूल के नियमों के प्रति उदासीनता, और अनुशासन की कमी प्रतीत हो, तो साधारण अविवेकी मास्टर साहब उस पर थप्पड़ या बेंत की वर्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यहां तक की कड़ावत प्रसिद्ध हो गई है कि 'लाड़ (प्यार) करने में बहुत दोष है और ताड़न करने में बहुत गुण है।

दुनिया का प्राचीन इतिहास बतलाता है कि समाज ने अपने अपराधी के लिये इसी सिद्धांत का और भी कटोरता से पालन किया है। भिन्न-भिन्न राज्यों ने अपराधी नागरिकों को शारीरिक दंड देने की अनेक प्रकार की रीतियां आविष्कृत कीं। अच्छे-अच्छे मतिष्कों को

दण्ड के लिये लगाया गया। कहीं कहीं अपराधियों की आंखों में

गर्द। कहीं उन्हें खड़ा करके उनके हाथ-

ही न सके, अथवा यदि

योग नोकदार कीलें घुस

गया। अनेक

हुत से स्थानों में

गुप्त या प्रकट

अनेक व्यक्तियों ने

दा मर जाना

जीवित रखा,

एव भोगते

य ने

पलटा खाया, लोगों में सहानुभूति और अनुकम्पा का भाव बढ़ा। उन्हें दूसरों के दुःखों का अनुभव हुआ। वे विवेक, उदारता तथा नम्रता का उपयोग करने लगे। तथापि शारीरिक दंड दिए जाते हैं, और बहुत दिए जाते हैं।

बैत की सजा—यों तो बेड़ी डालना, हथकड़ी पहनाना, सख्त मेहनत कराना आदि भी शारीरिक दंड के अन्तर्गत ही हैं, खासकर बैत की सजा को शारीरिक दंड कहा जाता है। कैन्ट आदि कुछ अपराध-शास्त्रियों का एक सिद्धान्त यह है कि दंड और अपराध में गुणगत समानता होनी चाहिए। इसे ध्यान में रखकर कहा जाता है कि जिस अपराध में निष्ठुरता हो या शारीरिक सुख का उद्देश्य हो (जैसे बलात्कार में), उसे करनेवाले को शारीरिक दंड देना, खासकर बैत लगाना ही सबसे अच्छा है।

प्रायः छोटी उम्र के अपराधियों को, तथा कुछ घोर अपराध करने वाले प्रौढ़ व्यक्तियों को, यह दण्ड दिया जाता है। कैदियों को भी कभी-कभी जेल में किये गये अनुशासन-भंग या अप्राकृतिक व्यवहार आदि किसी विशेष अपराध के वास्ते बैत लगाया जाता है। इस सजा के समर्थकों का यह खयाल है कि इस से दो लाभ होते हैं; एक तो यह कि अपराधी इससे शारीरिक कष्ट पाकर इतना पीड़ित तथा भयभीत हो जाता है कि वह फिर कभी कोई अपराध करने का दुस्साहस नहीं करता। दूसरे यह कि उसे यह सजा पाते देखकर तथा उसकी कष्ट-कहानी सुनकर अन्य व्यक्ति भी अपराध करने का विचार मन में नहीं लाते।

इस दंड की असफलता—इस विषय में कई बातें विचारणीय हैं—(१) कुछ अपराध-शास्त्री छोटी उम्र के अपराधियों को पहली बार बैत लगाना ठीक समझते हैं। परन्तु अनेक आदमी द्वारा तबारा अपराध करते हैं, और वे पहली बार के अपराध में बैत की सजा पाए हुए होते हैं; उस समय उन्हें यह दंड चाहे जितना कष्टदायक प्रतीत हुआ हो, पीछे

तो उन्हें हमेशा के लिए इससे मुक्ति मिल जाती है, क्योंकि दूसरी बार के अपराध में उन्हें कैद की ही सजा होगी। (२) अप्राकृतिक व्यभिचार के बहुत कम मामले प्रकाश में आते हैं, इसलिए यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस अपराध पर दंड का क्या प्रभाव होता है। (३) बेंत की सजा से आदमी डरते हैं, परन्तु कितने ही यह सजा पाकर अपने साथियों में बहादुर गिने जाने लगते हैं और आगे के लिए अधिक साहसी हो जाते हैं। अनेक राज्यों में इस दंड का प्रयोग पहले की अपेक्षा बहुत ही कम होने पर भी जेलों का अनुशासन कहीं अच्छा है।

इस दंड से हानि, बेंत लगानेवाले की दृष्टि से—

अपराधियों को बेंत लगाना कई दृष्टियों से अहितकर है। पहले हम बेंत लगाने वाले की दृष्टि से विचार करते हैं। प्रायः इस दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार ही नहीं किया जाता। यह समझा जाता है कि बहुत से आदमियों में, हजारों अथवा लाख दो लाख की आबादी वाली बस्ती में, दो-एक आदमी इस काम को करने वाले रहें तो इस से सामाजिक जीवन या वातावरण पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह वास्तव में ठीक नहीं है। ऐसे आदमी प्रायः अपने बच्चों तथा मातहतों के प्रति क्रूर होते हैं। उसके दुर्व्यवहार का प्रभाव उस के परिवार के सदस्यों तथा अन्य साथियों तक ही सीमित नहीं रहता, वरन् उसके कीटाणु सार्वजनिक जीवन में हिंसा करने और बदला लेने आदि के भावों का प्रचार करते हैं। इस प्रकार गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बेंत लगाने वाला व्यक्ति वास्तव में समाज का हितैषी न होकर कुछ अंश में विध्वंसक है। वह अपने लिये तो अच्छा जीवन व्यतीत करता ही नहीं है, कारण, वह मानवी गुणों से अधिकाधिक वंचित होता रहता है। ऐसे व्यक्ति की नैतिक अवनति में संदेह ही क्या है !

दर्शकों की दृष्टि से—इस दंड का तो देखनेवालों पर भी

अच्छा असर नहीं पड़ता। बहुधा आदमी इस दंड को क़ा समझ कर, अपराधी के अपराध को भूल जाते हैं, और उससे सहानुभूति करने लगते हैं। इससे स्पष्टतः दंड का उद्देश्य निर्मूल हो जाता है। बेंत की सजा कितनी अमानुषिक है, इसे वही लोग जान सकते हैं जिन्होंने कभी यह सजा दी जाने का प्रत्यक्ष अनुभव किया हो। सुप्रसिद्ध 'आर्ज' के सम्पादक ने एक बार इस सजा को मिलते देखकर लिखा था :—

“हम ने स्वयम् एक बालक को कलकत्ते में देखा था, जिसे बहुत ही साधारण अपराध में १५ बेंत की सजा दी गयी थी। सजा पाने के बाद बेचारे के × × में सूजन आगयी थी जो देखी नहीं जाती थी। पर उसे उस का भी उतना दुख नहीं था, जितना तज्जन्य अपमान का था। अभागे ने तीन दिन तक उपवास किया और उस के साथ उसकी वृद्धा माता ने अनशन किया। बहुत समझाने के बाद चौथे दिन उसने अन्न ग्रहण किया, पर रुलाई के कारण वह उस के गले के नीचे उतरता ही नहीं था। बड़ा ही करुणाजनक दृश्य था। उस की दशा देख कर आंखों में आंसू भर आते थे, और यह विचार आप ही आप मन में उत्पन्न होता था कि साधारण अपराध के लिये बालकों को बेंत लगाने की प्रथा का आविष्कार मनुष्य-द्रोही शैतान ने ही किया होगा।”

अपराधी का पतन—बेंत लगाने की प्रथा में अपराधी के लिये पतन का मार्ग स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। वह अपने आपको अपराधी मानने लगता है, बार-बार अपने अपराध की कल्पना करते-करते वह उसे अपने चिन्तन और मनन का विषय बना लेता है। इससे उसकी अपराध करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। लोक-लाज, विनय और संकोच जो उसकी पहले रक्षा कर सकते थे उनका अब हास होता जाता है। वह जज को और कोड़े लगानेवाले को विशेष रूप से अपना शत्रु समझने

लगता है। उसमें समाज के प्रति हिंसा की भावना का उदय हो जाता है। वह सोचता है कि दर्शक उसे पतित समझते हैं; उनकी इस धारणा को बदलने में अपने आपको असमर्थ जानकर वह उनके प्रति, और इस प्रकार सर्व-साधारण के प्रति, दुर्भाव रखने लगता है। मानसिक कष्ट से पागल हो जाने के कारण भी उसे बारम्बार अपराध करने की प्रेरणा होती है। खुले आम लज्जित और अपमानित होने पर उसके मनुष्यत्व का हास हो जाता है। वह अपने जीवन का कुछ मूल्य नहीं समझता। वह मरने से नहीं घबराता। निदान, उसके अधिकाधिक अपराधी बनने की तैयारी हो जाती है; इससे उसकी ही नहीं, समाज और राज्य की बड़ी हानि होती है।

जागृत लोक मत—जो व्यक्ति दंड को सुधार के लिये ही मानते हैं, उनका मत इस क्रूर प्रथा के विरुद्ध ही होता जाता है। वास्तव में यह प्रथा सभ्यता के लिये कलंक स्वरूप है। पिछले दिनों 'हार्वर्ड लीग' ने इस विषय की एक छोटी सी पुस्तक 'शारीरिक दंड' प्रकाशित की थी, जिसमें कई-एक चिकित्सकों और समाज-शास्त्रियों के मत का उल्लेख है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज डाक्टर ग्रुवर इसमें लिखते हैं कि 'कोड़े की सजा अपराधी को अपराध पर विचार करने का अवसर नहीं देती। इसमें अपराध करने की प्रवृत्ति पैदा होती है।' क्या भिन्न-भिन्न देशों के दंड-विधान के निर्माता तथा विविध स्थानों के दंड-योजना करनेवाले इन बातों पर विचार करने का कष्ट उठावेंगे ?

इस प्रथा का अन्त होना आवश्यक है—किसी-किसी देश में पहले बेंतों की मार से अपराधी के बदन की खाल उखड़ जाना और उसका मांस तक कट जाना मामूली बात थी। अब इस में कुछ सुधार हुआ है; जिस जगह बेंत लगाने होते हैं, वहां एक कपड़ा रख दिया जाता है, इस से शारीरिक कष्ट पहले के समान नहीं होता। परन्तु इससे भी अपराधी का अपमान और मानसिक कष्ट तो कुछ कम नहीं होता।

इस कुप्रथा को जारी रखने का एक कारण यह बताया जाता है कि साधारण अपराध के अपराधियों को भी कुछ-न-कुछ दंड तो मिलना ही चाहिए, और उनके वास्ते बैत की सजा ही उत्तम है; फिर, यदि बालक-अपराधियों को कैद की सजा दी जाय तो जेल में अन्य अपराधियों के साथ रहने से उनके और अधिक बिगड़ने की आशंका रहती है।

ऐसा कहनेवाले यह नहीं सोचते कि यदि बालक-अपराधियों के वास्ते और कोई दंड ठीक नहीं मालूम होता तो उन्हें यह पाशविक दंड देना ही कहां का न्याय है ? बैत लगाने की प्रथा अत्यन्त निन्दनीय है ; विशेषतया इस वास्ते यह और भी चिन्तनीय है कि इसका सम्बन्ध भावी नागरिकों से, देश के सुकुमारों से है, जिनके भविष्य पर राज्य के भविष्य का बनना-बिगड़ना, बड़ी सीमा तक निर्भर है। यह कदापि उचित नहीं है कि उनमें से लोकलाज का भाव निकाल दिया जाय, तथा उनमें आत्म-ग्लानि की दुर्भावना का संचार किया जाय। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि बैत लगाने की प्रथा प्रत्येक प्रजा-हितैषी राज्य से बालकों के लिये तो पूर्णतया, और प्रौढ आयु के अपराधियों के लिये अधिकांश में उठा दी जाय। गुण्डेपन या बलात्कार आदि जिस विशेष दशा में इस सजा का नियम रखना हो, उसके लिये मनोविज्ञानवेत्ता, अपराध-विशेषज्ञ विद्वान मिल कर विचार करें। स्मरण रहे कि समाज में ऐसी दशा केवल अपवाद-रूप होनी चाहिये, साधारणतया इस दण्ड को उपयोग में न लाने का ही नियम रहना चाहिये। संतोष का विषय है कि बहुत से देशों में इस दंड का प्रायः अन्त हो गया है।

चौथा परिच्छेद

जुर्माना और माल की जप्ती

—:०:—

पिछले परिच्छेद में शारीरिक दंड और विशेषतया बेंत की सजा के बारे में विचार किया गया है। अब हम आर्थिक दंड, अर्थात् जुर्माने और माल की जप्ती के विषय में विचार करते हैं।

जुर्माने की प्राचीनता—दंड के तौर पर जुर्माना करने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से है; हाँ, जुर्माने का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है। भारत की बात लीजिए। सामाजिक या धार्मिक मामलों में कोई अपराध करनेवाले अपराधी को बहुधा यह दंड दिया जाता रहा है कि वह ब्राह्मण-भोजन कराए, तीर्थ-यात्रा करे, जाति-भोज कराए या अमुक धन दान करे या पंचायती कोष में जमा करे। ये सब आर्थिक दंड के ही विविध रूप कहे जा सकते हैं। आर्थिक दंड ने ही समय पाकर बदला लेने का स्थान लिया। जब तक कोई जनसमूह घुमकड़ या आवासा रहा, उसमें अपराधियों से बदला लेने की भावना रही। मिसाल के तौर पर यहूदियों की धर्म-पुस्तक में आंख के बदले आंख, और दांत के बदले दांत लेने का नियम है। पीछे ज्यों-ज्यों आदमी एक जगह जम कर रहने लगे और उनकी बस्तियाँ बनने लगीं, उन्हें जमीन, जायदाद आदि में रुचि हो गई और वे अपराधियों से हर्जाना या मुआवजा लेकर उन्हें बदले के नियम से मुक्त करने लगे। कुछ प्राचीन

जातियों की कानून की पुस्तकों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि दांत के बदले कितना और आंग के बदले कितना अर्थ-दंड दिया जाना चाहिये; यही नहीं, भिन्न-भिन्न दाँतों के बदले अलग-अलग धन-राशि निर्धारित है। राज्य की स्थापना होने पर जुर्माने को व्यवस्थित रूप मिलता गया।

जुर्माने का हेतु; राज्य की आय ?—किसी अपराधी पर जुर्माना करने के दो उद्देश्य हो सकते हैं :—(१) अपराधी को दंड देना, और (२) राज्य की आय बढ़ाना । इनमें से दूसरा उद्देश्य तो प्रायः गौण होता है, जहां यह गौण नहीं होता, वहां भी गौण होना चाहिये । यदि राज्य की आमदनी ही जुर्माना करने का मुख्य उद्देश्य हो तो इस अधिकार का अदूरदर्शी न्यायाधीश बहुत दुरुपयोग कर सकते हैं । उनकी यह धारणा हो सकती है कि हम जुर्माने का दंड जितने अधिक अपराधियों को, अथवा जितनी अधिक मात्रा में देंगे उतना ही राज्य-कोष की वृद्धि करके हम सरकार को अधिक प्रसन्न कर सकेंगे। ऐसी धारणा वाले न्यायाधीश से राज्य की अच्छी सेवा नहीं होती, वरन् वह राज्य के अधिक विकार-ग्रस्त होने में सहायक होता है । अस्त, जुर्माने का उद्देश्य राज्य की आय-वृद्धि होना सर्वथा अनुचित है, और किसी सम्यक् राज्य को ऐसा उद्देश्य रखना शोभा नहीं देता ।

अपराधी को दंड—जुर्माने का मुख्य उद्देश्य अपराधी (या उसके अभिभावक या संरक्षक) को दंड देना ही हो सकता है । हमारी भौतिक आवश्यकताओं तथा सुख सुविधाओं के विविध साधन रूपों का चर्च करने से मिलते हैं, और जब अपराधी पर जुर्माना होता है तो उसे या उसके सम्बन्धियों को परोक्ष रूप से उन साधनों की पूर्ति की कमी का कष्ट हो

॥ कभी-कभी पुत्र के अपराध में पिता पर, तथा स्त्री के अपराध में पति पर जुर्माना किया जाता है ।

जाना है। जो लोग अपनी भावी आवश्यकताओं, अथवा अपनी संतान के लिए संचित किये हुए द्रव्य में से जुर्माना देते हैं, उन्हें भी किसी न किसी रूप में उग्र्युक्त कष्ट पहुँचता है। इस प्रकार जुर्माने का उद्देश्य अपराधी या उसके सम्बन्धियों की वर्तमान या भावी आवश्यकताओं की पूर्ति में कुछ अंश तक बाधा डालना है। यह दंड बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसा कि माता-पिता का अपने बालक को, उसकी किसी भूल पर, उस दिन या अगले दिन खाने को न देना, अथवा उसे मनोरञ्जन के साधन से वंचित करना। यह स्पष्ट है कि ऐसे दण्ड से दंडित व्यक्ति की कोमल भावनाएं जाग्रत नहीं होतीं, वरन् उस पर एक प्रकार का शारीरिक या पाशविक नियंत्रण किया जाता है। हां, माता-पिता का यह कार्य व्यक्तिगत तथा छोटी आयु वालों के लिए होता है, तो राज्य का यह कार्य सार्वजनिक, व्यापक क्षेत्र में तथा बड़ी उम्र वालों के लिए होता है। इस राज्य का कार्य कितना अधिक दोष-युक्त है, वह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

जुर्माना और लोभ की प्रवृत्ति — यह कहा जाता है कि जुर्माने से उन अपराधियों का सुधार होने में सहायता मिलती है, जिन्होंने लोभ या लालच वश अपराध किया हो। यह कथन भी बहुत थोड़े अंश में ही सत्य हो सकता है। वास्तव में मनुष्यों के लोभ लालच का रोकना इतना सरल कदापि नहीं है, जितना उग्र्युक्त कथन करनेवाले समझने की भूल करते हैं। मानव चरित्र बहुत पेचोटा और रहस्यमय है इसमें परिवर्तन या संशोधन करने के लिए मनोविज्ञान के अनुकूल विविध उपाय काम में लाने चाहिये। उनके अभाव में जुर्माने आदि के बाहरी दबाव से लोगों के लोभ की प्रवृत्ति का नियंत्रण करना निरी अलक्ष्यता है। यह कार्य किसी रक्त विकार के रोगी को रक्त-शोधक औषधी न देकर, उसके पके हुए फोड़े पर कुछ ऐसी मलहम लगा देने के समान है, जो सम्भव है, न केवल अन्य उभरने वाले फोड़ों को आराम न पहुँचाए, वरन् उस के पके फोड़े के लिये भी अधिक कष्ट-जनक हो। जुर्माने के भय से लोभ की प्रवृत्ति कुछ

समय के लिये दब भले ही जाय, परन्तु मोका पाकर वह फिर उभरेगी और सम्भव है कि और भी अधिक उग्र रूप में प्रकट हो ।

धनवानों पर जुर्माने का असर—साधारणतया जुर्माने से धनवानों का कोई हित-साधन नहीं होता; हाँ, इससे उनकी हानि उतनी नहीं होती, जितनी अन्य दण्ड से होती है; (दण्ड प्रणाली के बहुत दूषित होने की अवस्था में इसे भी गनीमत समझना चाहिए । ये लोग जुर्माने की रकम चटपट चुका सकते हैं, और अन्य लोगों को कभी-कभी उनके अपराधी होने की खबर तक नहीं होती । कुछ दशाओं में तो जुर्माना एक उपहास सा हो जाता है । उदाहरणार्थ मिश्रचन्द्रियों की 'व्यय' नामक पुस्तक में लिखा है कि एक महाशय रेलगाड़ी में सवार थे, भूल से उनके हाथ से एक शीशा टूट गया । 'गार्ड' को पता लगा तो उसने उनसे कुछ रुपये दंड स्वरूप मांगे । उन्होंने शीघ्र ही दो और शीशे जान बूझकर तोड़ दिये, और 'गार्ड' को तिगुने रूपण दंड-स्वरूप एवं दस रुपये इनाम की भाँति तत्काल ही दे दिये । यद्यपि ऐसे उदाहरण कम होते हैं, यह तो स्पष्ट ही है कि धनवान लोगों पर जुर्माने का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता ।

गरीबों की बरबादी—अब गरीबों का विचार करें—आज कल प्रत्येक देश में अधिकांश संख्या इन्हीं की होती है । ये बेचारे जुर्माने की रकम सहसा अदा नहीं कर सकते, और इस लिये प्रायः जेल के मेहमान बनते हैं । परन्तु इससे इनकी, जुर्माने के दंड से मुक्ति नहीं होती । इन्हें जेल भेज कर, अधिकारियों की नज़र इनके माल-असबाब पर पड़ती है, पर जुर्माना वसूल करना होता है, नक़दी में । इसलिये वे उस माल असबाब को जल्दी से जल्दी नीलाम करके जितना रुपया मिले, प्राप्त करने की फिकर में रहते हैं । अपराधी के साथ उनकी कोई सहानुभूति तो होती ही नहीं, फिर उसके माल-असबाब के वास्ते भी उनके दिल में कुछ दर्द न हो, तो क्या आश्चर्य ! और, बाज़ार का यह साधारण नियम है कि जब

माल बेचने वाले को जल्दी होती है तो ग्राहक उपेक्षा करते हैं, उसे नीलाम होनेवाले सामान के दाम कम उठना स्वाभाविक ही है। फिर, ऐसे प्रमंग पर बहुत से आदमियों में भावुकता का विचार जागृत हो जाता है, उन्हें इस बात की मन ही मन चिन्ता होती है कि एक आदमी अपने माल असबाब से वंचित किया जा रहा है। उनकी कुछ ऐसी धारणा होती है कि उस सामान को मोल लेना एक हृदयद्रावक कार्य में सहयोग देना है। इसलिए वे इसमें किसी का भाग लेना निन्द्य समझते हैं, और स्वयं तो उसमें सम्मिलित ही नहीं होते। इससे ग्राहकों की और भी कमी हो जाती है। यही कारण है कि बहुत एक रुपये के माल के केवल तीन चार आने ही उठने के उदाहरण मिला करते हैं। इस प्रकार जुर्माने की रकम वसूल करने के लिये उससे कई गुने मूल्य का सामान बेच दिया जाता है। जिन गरीब लोगों पर, कुछ भारी जुर्माना होता है, उनकी पूरी आर्थिक बरबादी सम्भन्नी चाहिए। फिर, उनसे अच्छे नागरिक जीवन की क्या आशा रखी जाय !

अतः, यदि आर्थिक दंड या जुर्माने का उद्देश्य अपराधी नागरिक का सुधार, अथवा राज्य में अपराधियों की संख्या कम करना, है तो वह प्रायः पूरा नहीं हो सकता।

माल की जप्ती—कहीं-कहीं कुछ दशाश्रमों में घोर राजद्रोह आदि के कारण, अपराधी का माल असबाब या जायदाद जप्त कर ली जाती है। जो बातें भारी जुर्माने के कारण होनेवाले नीलाम के सम्बन्ध में ऊपर लिखी गयी हैं, वे सब माल की जप्ती के विषय में चरितार्थ होती हैं; हाँ, अधिक माल की जप्ती होने की दशा में वे सब दुष्परिणाम शीघ्र ही नजर आ जाते हैं। किसी आदमी को उसके जीवन-निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक सामानों से वंचित कर देना मानों उसे समाज और राज्य के प्रति घोर शत्रुता करने के लिये आमंत्रित करना है। यदि पहले उसके सुधार की कोशिश बहुत गुत्तायश भी थी तो अब उन्हें आवाग बना कर, उनके सुधार

और उन्नति का ही सब रास्ता बन्द नहीं किया जाता, वरन् उनके द्वारा होनेवाली प्रतिहिंसा के लिये अपनी तैयारी करनी पड़ती है। आह ! इस प्रकार कितनी शक्ति व्यर्थ जाती है, और कितनी का दुरुपयोग किञ्च जाना है।

नैतिक दुष्परिणाम—माल की जप्ती के मानसिक और नैतिक दुष्परिणाम भी कम विचारणीय नहीं हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि जो चीजें उसके पास गड़ती हैं, जिनसे उसका सम्बन्ध रहता है, उनसे उसे कमशः बहुत ममता हो जाती है। बहुधा बच्चों को देखा गया है कि वे घर के कुत्ते चिल्ली को भी बहुत प्यार करते हैं, और, उनके सुख सुविधाओं की अपनी ही तरह, और कभी-कभी तो अपने से भी अधिक, चिन्ता क्रिया करते हैं। जब कभी आदमी एक मकान छोड़ कर दूसरे मकान में रहने लगते हैं तो उनके बच्चों को बहुधा पुराने मकान की याद आया करती है। प्रौढ़ आयु वालों में भी यह बात मिलती है। अनेक बार जब वस्त्रादि की अत्यन्त आवश्यकता ने लोगों को अपने गाय, बैल, भैंस, घोड़ा या मकान आदि बेचने का विचार करने के लिये बाध्य किया है तो उन्होंने अपने-आप को बड़े धर्म-संकट में पड़ा हुआ समझा है। पहले वे बेचने को तैयार हो जाते हैं, ग्राहक से बात-चीत भी करने लगते हैं, मूल्य भी बहुत कुछ निश्चित सा हो जाता है, परन्तु इतने में उस वस्तु के प्रति उनका आन्तरिक स्नेह उमड़ पड़ता है, अथवा घर की महिलाएं या बच्चे ही उस वस्तु को पृथक् करने का विरोध करते हैं, यहां तक कि उसे बेचने के विचार को स्थगित करना पड़ता है। जहां तक वन आवे, वे भूख, प्यास, और सर्दी-गर्मी से होने वाला कष्ट सहना स्वीकार करते हैं और उस वस्तु के वियोग का अवसर नहीं आने देते।

यह बात तो उन लोगों के सम्बन्ध की हुई, जो स्वयं अपनी आवश्यकताओं से विवश होकर अपने माल-असबाब के किसी अंश के पृथक् करने का विचार करने के लिये बाध्य होते हैं। ये लोग अपने कार्य के

वास्ते स्वाधीन होते हैं, उसे करने या न करने का आधिकार स्वयं उन को ही होता है। इन्हें अपनी वस्तुओं के बदले में भोजन-वस्त्र जैसे आवश्यक और उपयोगी पदार्थ मिलते हैं, तो भी वे अपनी चिर परिचित स्नेह-युक्त वस्तुओं को दूर करने में बड़ा कष्ट मानते हैं। तब, उन लोगों की मानसिक दशा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है, जो बाहरी शक्ति (राज्य) द्वारा अपनी वस्तुओं को छोड़ने, और इन के बदले में कुछ भी न पाने के लिये बाध्य किये जाते हैं। जो आदमी यह सोचता है कि कल तक मैं मकान वाला था, आज मुझे कहीं रहने को ठौर नहीं; पहले, समाज में मेरा कुछ स्थान था, अब मेरी हैमियत बिगड़ गयी, ग्वाने पीने की मामूली से भी वंचित हूँ—उसकी मनोदशा को भुक्त-भोगी ही जान सकता है। वह एक-एक मिनट चिन्ता का जीवन बिताता है। वह अपने जीवन का कुछ मूल्य नहीं समझता, आत्म-हत्या तक से परहेज नहीं करता; फिर, यदि वह मरने से पूर्व अपने समाज विद्रोह के प्रमाण स्वरूप कुछ घोर दुःकृत्य कर बैठे तो क्या आश्चर्य! और, हाँ, क्या इस अपराधी के साथ अनेक नागरिकों की मन ही मन सहानुभूति न होगी? क्या बहुत से आदमी यह कहने या सोचनेवाले न मिलेंगे कि इस व्यक्ति ने जो कार्य—वह कार्य कितना ही निन्दनीय क्यों न हो—किया है, वह इस व्यक्ति की तत्कालीन परिस्थिति में किया जाना नितान्त स्वाभाविक था। राज्य में अपराधियों से सहानुभूति रखने वाले आदमियों का होना राज्य के लिए कैसा अहितकर है, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

अपराधियों की वृद्धि—भारी जुमानों या माल की जप्ती के विषय में विशेष चिन्तनीय बात यह है कि 'अपराधी' माने जाने वालों के साथ इनके परिवार वालों को भी दंड भुगतना पड़ता है। वे अपनी अत्यन्त आवश्यकता के पदार्थों से भी वंचित हो जाते हैं; इस दशा में वे या तो आवाग होकर समाज और राज्य में अपराधियों की संख्या

बढ़ाने वाले होते हैं, अथवा भूख प्यास से व्याकुल होने की दशा में अपने प्राण-विसर्जन करते हैं। निदान, इन दंडों से अपराधियों का सुधार होना तो दूर रहा, उल्टा उन के परिवार आदि के निरपराध आदमियों के भी अपराधी होने की सम्भावना हो जाती है। क्या भिन्न-भिन्न राज्यों के शुभचिन्तक इन दंडों के इस पहलू पर गम्भीरता और शान्ति से विचार करके अपने मानव-प्रेम का कुछ परिचय देंगे ?

पांचवाँ परिच्छेद

रिफार्मेटरी या सुधार-शाला

—:०:—

अधिकतर अपराधों के लिए कैद की सजा होती है, और यह दंड पाने वाले व्यक्ति जेलों में रखे जाते हैं। इनके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। पहले उन संस्थाओं के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है, जहाँ छोटी उम्र के अपराधी रखे जाते हैं, और जिन्हें सुधारशाला या 'रिफार्मेटरी' कहा जाता है।

सुधार-शालाएं या बिाड़-शालाएं ?—दंड का उद्देश्य यह बताया जाता है कि अपराधी को ऐसी परिस्थिति में रखा जाय, जिस में उसका सुधार हो; उसका अपराध करने का अभ्यास न रहे। इसी बात को लक्ष्य में रख कर बालक-अपराधियों के लिये सुधार-शालाओं की व्यवस्था की जाती है। ये संस्थाएं अपना उद्देश्य कहां तक पूरा करती हैं ?

प्रायः सुधार-शालाओं में अपराधी को ऐसी संगति और वातावरण मिलता है कि वे वहां अपराध विषय की प्रारम्भिक शिक्षा पा लेते हैं। वे

ज्ञान लेते हैं कि अपराध करने पर भी गिरफ्तारी से किस प्रकार बचा जा सकता है। इन संस्थाओं से निकल कर वह अपनी योग्यता की परीक्षा लेते हैं, और यदि असावधानी या संयोग से वह इसमें विफल रह जाय तो उच्च शिक्षा लेने के लिए जेल-रूपी महाविद्यालय में प्रवेश करने को तैयार रहते हैं, जहां उन्हें अपने विषय का विशेषज्ञ होने तथा उस में तरह-तरह के अनुसंधान और आविष्कार करने की उच्च कोटि की विविध सुविधाएं और साधन मिल सकें।

एक अनुभवी की जांच—अपराध-शास्त्र के सुप्रसिद्ध अनुभवी डा० हीली को जांच करने पर मालूम हुआ है कि सुधारशालाओं में भेजे हुए अपराधियों में से ७० फी सदी अपने भावी जीवन में नासफल रहे, जबकि उन युवकों में से जो प्रारम्भिक अपराधों के कारण इन संस्थाओं में नहीं भेजे गये थे, केवल ३७ फी सदी ही पीछे अपराधी पाये गये। ऐसा होते हुए भी हम इन संस्थाओं की उपयोगिता मान रहे हैं! सोचने की बात है कि उन सैकड़ों युवकों के लिए एक ही प्रकार का, यंत्र की तरह का बर्ताव कैसे उपयुक्त हो सकता है, जिनमें से प्रायः किन्हीं दो व्यक्तियों का भी स्वभाव और आदतें समान नहीं हैं; सब की आवश्यकताएं और समस्याएं अलग-अलग हैं! इसमें सन्देह ही क्या कि ऐसी संस्था में जो व्यक्ति सबसे अधिक अपराध-कुशल होगा, वह औरों के लिये नमूने का काम देगा। जरूरत है कि युवक अपराधियों एवं प्रारम्भिक अपराधियों को इन सुधार-शालाओं (या बिगाड़-शालाओं?) में एकत्रित न कर उनको अलग-अलग रखते हुए और उनकी व्यक्तिगत परिस्थिति का विचार करते हुए, सुधारने का प्रयत्न किया जाय।

नये ढङ्ग की सुधार-शाला—नये ढङ्ग की आधुनिक रिफार्मेटरी के उदाहरण-स्वरूप अमरीका की एल्मिरा रिफार्मेटरी की कुछ शांतव्य बातों का उल्लेख किया जाता है। इस संस्था की स्थापना सन् १८७६ ई०

में हुई थी। यह दुनियां में बच्चों के सबसे पुराने जेलखानों में एक है। इसमें १६ से लेकर २५ वर्ष तक की उम्र वाले रहते हैं।

इसमें प्रति सप्ताह लगभग २० नए कैदी भर्ती किये जाते हैं। प्रत्येक नए कैदी को एक मास तक प्रारम्भिक नियम के अनुसार रहना पड़ता है। इस एक मास में उससे कई तरह की पूछ-ताछ की जाती है। उसकी कई परीक्षाएं होती हैं। उसे वहां के सारे नियमों से वाक़िफ़ होना पड़ता है। इस रिफार्मेटरी में एक विभाग है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों की प्रकृति से परिचित होता है, जिससे उनके साथ उन्हीं के योग्य व्यवहार किया जाय, तथा उनकी बीमारियों का निदान हो सके। उनकी ठीक-ठीक दवा करने के लिए भी एक विभाग है। आज कल इस विभाग में मानसिक बीमारियों के दो विशेषज्ञ मनोविज्ञान के दो पण्डित तथा समाज-शास्त्र के दो विद्वान काम कर रहे हैं। समाज-शास्त्र के विद्वान नए कैदियों से पूछ-ताछ तथा बात-चीत करते हैं, उनके सम्बन्ध में लोगों से पत्र व्यवहार करते हैं, हर तरह की खबरों को इकट्ठा करते हैं तथा सामाजिक इतिहास लिखा करते हैं जो बहुत ही मनोरंजक तथा शिक्षा-प्रद होता है।

एक महीने तक रिफार्मेटरी में रहने के बाद प्रत्येक कैदी श्रेणी-विभाग समिति के सामने पेश किया जाता है। इस समिति की बैठक प्रत्येक शुक्रवार को होती है। यह समिति पेश किए गए आदमियों को, जो जिस काम के योग्य होता है, उसे उसी काम में लगा देती है। कुछ व्यापारिक कामों में लगा दिए जाते हैं, कुछ स्कूल में, कुछ शारीरिक श्रृङ्गार-कला सम्बन्धी काम में। इसके बाद नए कैदी रिफार्मेटरी के अन्य सभी पुराने कैदियों के साथ आमतौर से रहने लगते हैं। छः महीने तक इस प्रकार रह चुकने पर वे “पैरोल बोर्ड” के सामने लाए जाते हैं। यह बोर्ड इस बात को तय करता है कि वे कितने दिन तक रिफार्मेटरी में कैद रखे जाय। हर एक व्यक्ति इस रिफार्मेटरी में औसतन प्रायः १७ महीने रहता है। रिफार्मेटरी से निकालने पर वह तब तक के लिए “पैरोल”

(शर्त) पर स्वतंत्र कर दिया जाता है, जब तक उसकी सजा की मियाद न बीत जाय। कैद की अवधि ढाई साल से लेकर तीन साल तक होती है।

इस रिफार्मेंटरी में सब काम नियम-पूर्वक होते हैं। प्रातःकाल छः बजे त्रिगुल बजते ही सब उठ जाते हैं। तब से दस बजे रात तक सभी कामों के लिए त्रिगुल बजता है। रविवार को छोड़ कर प्रति दिन एक घण्टा सैनिक क़वायद की जाती है। बुध और शनिवार को सब कैदी सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहिनते हैं। इस अवसर पर बाहर से दर्शक रिफार्मेंटरी को देखने आते हैं। रिफार्मेंटरी में शारीरिक शिक्षा का भी कार्य क्रम रहता है—उदाहरणवत् कुश्ती, तैरना, शारीरिक व्यायाम करना, खेलना आदि। प्रति रविवार को कैदी बारह बजे गिरजाघर में जाकर प्रार्थना करते हैं और दोपहर के बाद बाइसकोप देखते हैं। यहां कैदियों की एक दर्शन-समिति भी है, जिसमें अधिक शिक्षित और तीव्र बुद्धि वाले कैदी भाग लेते हैं। इसकी बैठक प्रति रविवार को बारह बजे के पहले एक घण्टे के लिए होती है। कैदियों द्वारा सम्पादित एक साप्ताहिक पत्र भी प्रति शनिवार को प्रकाशित होता है। इसमें तरह-तरह की खबरें तथा दिलचस्प विषयों पर लेख होते हैं। इन दिनों इस रिफार्मेंटरी में पुनःनिर्माण के एक दस वर्षीय कार्यक्रम के अनुसार काम हो रहा है। स्कूल के लिए एक तिमांजिला नया मकान भी बना है जिसमें ५०० से लेकर ६०० कैदी प्रति दिन पढ़ते हैं। शिक्षकों में प्रायः सभी को जेल के भीतर ही रहना पड़ता है। अस्पताल भी एक नए तिमांजिले मकान में है। ❀

क्या अभी प्रत्येक राज्य में इस प्रकार की काफी संस्थाएं स्थापित और संचालित होने का समय नहीं आया? कब आयागा?

❀ प्रताप के आधार पर इस पुस्तक के पहले संस्करण (सन १९३६) के लिये नी गयी ये बातें इस समय भी निवारणीय हैं।

छठा परिच्छेद

कैद

—:०:-

संसार के जेलखानों में 'नरक-यातनाएं' देकर कैदियों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। अपराधियों को सुधारने का यह मार्ग हजारों वर्ष तक आजमाया जा चुका है, पर यह मार्ग अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से असफल रहा है। संसार की अधिकांश जेलों से मुक्त होने वाले अपराधी अधिकतर पक्के चोर, डाकू और हत्यारे होकर निकलते हैं।

—'कर्मवीर'

कैद की अधिकता—विविध राज्यों में कैद के दण्ड का इतना उपयोग किया जाता है कि 'सजा' या 'दण्ड' शब्द प्रायः कैद का पर्याय-वाची माना जाने लगा है। उदाहरण के लिए चार (अथवा कम ज्यादा) महीने की 'सजा' का अर्थ इतने समय की 'कैद' होता है। दण्डाधिकारियों ने अनेक अपराधों के लिए एक-राम-बाण नुस्खा जेल समझ रखा है। इसका वे प्रायः प्रयोग करते रहते हैं। हर जिले में रोगियों के अस्पताल की व्यवस्था चाहे पर्याप्त न हो, पर इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि जिला-जेल इतना विशाल अवश्य हो कि उसमें उस जिले के सब कैदी रह सकें। यदि किसी जिले में सैकड़ों विद्यार्थी स्थान या व्यवस्था की कमी के कारण स्कूलों में प्रवेश न कर सकें, तो इसमें सरकारें अपना कुछ अपमान नहीं समझतीं, परन्तु ऐसा अवसर

तो वे स्वप्न में भी आने देना नहीं चाहतीं कि कैद की सजा पाये हुए किसी व्यक्ति को जेल में जगह न मिल सके ।

जेल के सम्बन्ध में विशेष विचार करने से पूर्व हवालात के विषय में कुछ आवश्यक बातें जान लेनी चाहिए ।

हवालात—बहुत से अभियुक्तों को उनका मुकद्दमा चलने से पूर्व कुछ समय (प्रायः चौबीस घण्टे तक) पुलिस की हवालात में रहना पड़ता है । कभी-कभी पुलिस किसी अभियुक्त को उसके साथियों की तलाश की इन्तजार में अधिक समय भी अपने नियंत्रण में रखती है, अथवा जेल की हवालात में बन्द कर कर उसके विरुद्ध प्रमाण संग्रह करने लगती है, और मजिस्ट्रेट पुलिस को जितना समय देता है, उसकी समाप्ति से पूर्व, पुलिस उस मोहलत को और बढ़ाने की दरखास्त दे देती है । इस प्रकार कुछ अभियुक्तों को हफ्तों पुलिस की हवालात में, अथवा महीनों जेल की हवालात में रहना पड़ता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मुकद्दमे में पेशी पर पेशी लगती रहती है, अथवा बहुत लम्बी पेशी लग जाती है, और अभियुक्त को महीनों ही नहीं, वर्षों अपनी जिन्दगी जेल की हवालात में बितानी पड़ती है । अस्तु, हवालात एक प्रकार से सादी कैद सी ही है; अब हम कैद की सजा के बारे में विचार करते हैं ।

सादी और सख्त कैद—कैद के मुख्य दो भेद होते हैं, सादी और सख्त । सादी कैद वालों को कुछ काम करना नहीं होता । बहुधा शिक्षित आदमियों को पढ़ने के लिए पुस्तकें या अखबार आदि भी बहुत कम दिये जाते हैं । इसलिये ये व्यर्थ की बातों में अपनी दिन-कटी किया करते हैं, और कुछ समय के जेल-जीवन से इन्हें सुस्ती, आरामतलबी, और बेकार पड़े रहने के ऐसे अभ्यास पड़ जाते हैं, जो इन्हें पीछे

बहुत दुःख देते हैं, और बहुतों को और अधिक अपराधी बनाने में सहायक होते हैं ।

सख्त कैद वालों को जो काम दिया जाता है, उसमें उनकी शारीरिक या मानसिक क्षमता तथा रुचि आदि की अपेक्षा अनुशासन सम्बन्धी नियमों का अधिक विचार किया जाता है । कैदियों की योग्यता का विकास करना तो दूर रहा, जो योग्यता होती है, उसका भी उपयोग नहीं किया जाता । 'गोल सुगाखों में चौकोर कीलों' की भांति उनकी शक्ति का भयंकर दुरुपयोग होता रहता है ; इससे उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बड़ी घातक हानि पहुँचती है ।

जेल का जीवन—जेलों में साधारण कैदियों से (अधिकांश कैदी साधारण ही होते हैं, विशेष की संख्या तो बहुत कम रहती है) पशुओं का सा व्यवहार होता है । उन्हें खाने को घटिया से घटिया पदार्थ दिये जाते हैं । उनके वास्ते जो अन्न पीसा जाता है, उसमें मिट्टी कङ्कर मिली रहती है । जेल के बगीचे में पैदा होने वाली हर एक हरी चीज, यहां तक कि उसके छिलके और पत्ते भी उनकी शाक-भाजी ह । यदि वे रोगी हों तो डाक्टर साहब की जेब में पड़ी हुई पुड़िया, अथवा उनके 'अन्ताल' कहे जाने वाले कमरे में रखी हुई बोतलों की ताम-चात्र की आपधियां उन के लिये राम-बाण समझी जाती हैं । उनकी शिकायतें सुनने के लिये एक खास दिन मुकर्रर होता है, उस दिन सुपरिन्टेन्डेन्ट के सामने उनकी वे ही शिकायतें पेश हो सकती हैं, जिनके लिये जेलर साहब ने अनुमति देने की कृपा की हो । सर्दी के दिनों में उन्हें ओढ़ने-बिछाने को पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलते । इससे उन्हें जुकाम, खांसी, नमोनिया आदि की बीमारी हो जाती है । गर्मियों में उन्हें ओढ़ने को चादर नहीं मिलती, इससे रात्रि में मच्छर उन्हें शान्ति से सोने नहीं देते, और वे सिर-दर्द और मलेरिया आदि के शिकार हो

जाते हैं। रात्रि में शान्ति-भंग करने का एक दूसरा कार्य भी वहाँ जारी रहता है; वह है, हर आध-आध घण्टे में पहरेदारों का बैरक में चिल्लाना और कैदियों को गिनना। इससे कैदी अपनी रही-सही शान्ति से भी वंचित हो जाते हैं। फिर, अनुशासन के नाम पर उन्हें सबेरे निर्धारित समय पर अवश्य उठ जाना चाहिए, चाहे रात्रि में उन्हें पर्याप्त निद्रा न भी आई हो। रोज-रोज की निद्रा की कमी शरीर और मस्तिष्क को कैसा विकार-युक्त बना देती है इसे भुक्त-भोगी ही जानते हैं। कैदियों को शौच जाने के लिये भी स्वतन्त्रता नहीं, उसका समय निर्धारित है, घण्टा बजने पर उन्हें तैयार होना ही चाहिए। उन्हें गाली-गलौज देना या मारना पीटना तो साधारण बातें हैं। कहने को तो उन्हें पढ़ने-लिखने की भी व्यवस्था होती है, परन्तु यह तो मोटी अक्ल की बात है, कि कौन अधिकारी यह चाहेगा कि कैदी में कुछ सोचने समझने की शक्ति हो, और वह जेल के जीवन की खरी आलोचना करने का साहस करे। कुछ अधिकारी कभी-कभी अपने व्यवहार की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये कैदियों का वजन बढ़ाने का प्रमाण दिया करते हैं, परन्तु यदि लोगों की दशा ऐसी खराब है कि उन्हें अपने घर रोज दो वख्त पेट भर खाने को नहीं मिलता और जेल में जैसे-तैसे उनकी उदर-पूर्ति होने से उनका शरीर कुछ पुष्ट हो जाता है, तो इससे देश की हीनता का परिचय अवश्य मिलता है, जेल-जीवन की श्रेष्ठता का समर्थन नहीं हो सकता।

जेल का वातावरण—जेलर साहब प्रायः एक शासक और प्रबन्धक के रूप में रहते हैं। उन्हें हर घड़ी यह ख्याल रहता है कि ऐसा न हो कि कहीं कैदियों से नमी का बर्ताव करने से जेल के अनुशासन या 'डिसिपलिन' में कुछ अन्तर आ जाय। जेल में काम करनेवाले जमादार और पहरेदार ('वार्डर') आदि कुछ खास विश्वास-पात्र कैदी होते हैं, जो जेलर तथा अन्य अधिकारियों को खुश रखने की कला में

प्रवीण होते हैं। जो कैदी इन लोगों की हां-हजूरी और खुशामद आदि करता है, जो इनके इशारों के मुताबिक चलने में आनाकानी नहीं करता, जो अपने विचार-स्वातंत्र्य को सर्वथा छोड़ देता है, जिसमें आत्म-सम्मान की भावना नहीं रहती, उसी कैदी की प्रायः मज्जे से गुजरती है। इसके विपरीत, जो सज्जन वहां अपने स्वाभिमान आदि के कारण इस वातावरण के अनुकूल बनने में सफल नहीं होता, वह विविध प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्ट पाता है। कैदी यह जानते ही हैं कि वे जेल का रंग-ढंग नहीं बदल सकते। इसलिये वे प्रायः इस बात का भरपूर प्रयत्न करते हैं कि वे अपने आपको उसके दूषित वायु-मंडल के अनुकूल बना लें।

एकांगी और पातकी जीवन—साधारण नागरिक जीवन में मनुष्य अपने भाई-बन्धुओं के अतिरिक्त स्त्री-जाति के भी संसर्ग में आता है। घर में मां, बहिन और पत्नी मिलती है तो बाहर और भी महिलाओं से समय-समय पर मिलना-जुलना होता है। समय-समय पर मनोहर मूर्ति, निर्दोष बाल-वर्च्चों से जी बहलता है। इससे उसे नवीन, ताजे, तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक-स्वास्थ्य-वर्द्धक अनुभव होते हैं। परन्तु, जेल में उसे प्रायः अपनी ही उम्र के आदमियों की संगति में रहना पड़ता है, और वह भी अपराधियों की में। इससे उसके जीवन के एकांगीयन, निरसता तथा यान्त्रिकता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उसे दिन रात एक खास नक्शे के मुताबिक बने हुए मकानों में रहना होता है, एक निर्धारित क्षेत्र से बाहर आने-जाने की उसे अनुमति नहीं होती। हंसने-खेलने तथा अपने विविध मनोभावों को प्रकट करने का उसे कोई अवसर ही नहीं मिलता। जमादारों और जेलर आदि की हर प्रकार की सख्तियाँ उसे चुपचाप एक पशु की भांति सहन करते रहना चाहिए। जेल का व्यवहार अधिकांश में शुष्क, सद्भाव-हीन ही नहीं, पतनकारी होता है। उसमें से जो व्यक्ति शारीरिक,

मानसिक या आत्मिक दृष्टि से कुछ उन्नत होकर निकले तो यह उस व्यक्ति की विशेषता समझी जानी चाहिए; इसका यश जेल या उसके अधिकारियों को कदापि नहीं। वे तो मानों पूर्ण रूप से चेतन मनुष्य को जड़, नर्म को कठोर, धर्म-भीरु को निर्लज और भोलेभालों को अपराधी, तथा साधारण अपराधियों को घोर कुकर्मी बनाने का बीड़ा उठाये होते हैं।

जेल समाज के रक्षक नहीं—रोजमर्रा के अनुभव की बात है कि जेलों में कुछ समय रहने के बाद आदमी, पहले की अपेक्षा समाज के लिए अधिक हानिकार हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि अपराधियों को समाज से पृथक्, जेल में रखकर समाज की, उनके द्वारा होनेवाली हानि से, तथा उसके घातक प्रभाव से रक्षा की जाती है। यदि थोड़ी देर के लिये इसे सत्य ही मान लिया जाय तो सोचना तो यह है कि यह रक्षा कितने कम समय के लिये होती है, और पीछे इसका कितना भारी मूल्य देना पड़ता है। यदि एक अपराधी के साल दो साल जेल में रहने की दशा में समाज की उससे रक्षा हुई, और पीछे वह और अधिक अपराधी और समाज-द्रोही बन कर कई वर्ष का जीवन समाज में व्यतीत करने के लिये आ जाता है तो क्या समाज को अपनी पूर्व रक्षा अब बहुत महंगी न पड़ेगी! मनुष्यों के मनुष्यत्व का हास करने और उनका नैतिक (तथा कुछ दशाओं में शारीरिक) पतन करनेवाली प्रायः सब सहायक बातें जेलों में विद्यमान होती हैं।

कैद से समाज-विद्रोह बढ़ता है—कैदी औरों से पृथक् रहने के कारण प्रायः उदास-सा रहता है, उसके मन में स्फूर्ति या चेतना का भाव नहीं रहता। वह अपने आपको एक पिंजरे में बन्द पक्षी की तरह समझता है। जेल का तमाम वातावरण बड़ा विचित्र, नीरस और निराशाजनक होता है। कैदी प्रायः अपने आपको निर्दोष मानता, और सामाजिक अन्याय का शिकार समझता है। अन्य कैदियों की कुसंगति में उसे नये

अपराध करने को शिक्षा मिल ही जाती है। वस उसमें समाज से, धनवानों और सत्ताधारियों से, बदला लेने की भावना जागृत होकर कमशः बढ़ती रहती है। इसके अतिरिक्त, बहुधा ऐसा भी होता है कि एक आदमी के कैदी बन जाने से उसके बालकों और स्त्री आदि को बहुत आर्थिक तथा अन्य सङ्कट सहना पड़ता है, उनमें भी समाज-विद्रोह के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

जेलों में व्यभिचार—पैसे के बल से कैदियों को, और अधिकार बल से अधिकारियों को वर्जित पदार्थ भी मिलते ही रहते हैं। और तो और, जेलों में व्यभिचार भी यथेष्ट मात्रा में होता है। अप्राकृतिक दोष भी कम नहीं होते। आरम्भ में कुछ आदमी सख्ती से बचने के लिये, और कुछ खान-पान बीड़ी-सिग्रेट आदि के प्रलोभन से दुष्कृत्यों के शिकार होते हैं, और पीछे तो उनकी आदत ही पड़ जाती है। खेद का विषय है कि पतन की यह चरम सीमा भी जेलों में विद्यमान रहती है, और मानों आंख मीच कर सहन की जाती है।

रोगी बनने के प्रयत्न—साधारण मनुष्य भी बहुधा काम या परिश्रम से जी चुराया करते हैं, फिर जेलों के दूषित वातावरण में, वहां के अनैतिक जीवन की परिस्थिति में, रहनेवाले कैदी यदि मेहनत से बचने का प्रयत्न करें तो क्या आश्चर्य है! मेहनत से बचने का वहां सरल मार्ग यही है कि किसी प्रकार रोगी बन जायें। कुछ आदमी दिन रात बीमार पड़ जाने की इच्छा करते हैं, और बीमारी इनका निमंत्रण स्वीकार नहीं करती इस लिये इन्हें जबरदस्ती उसे खींच लाना होता है। ये तरह-तरह की चालबाजियां करके कमजोर हो जाते हैं, खून के दस्त करने लगते हैं, बुखार चढ़ा लेते हैं। जेल का डाक्टर इन्हें स्वस्थ होने की विधि बतलाता है तो ये उसके विपरीत चलते हैं; कुपथ्य करते हैं। इस प्रकार जब डाक्टर को रोगी का सहयोग प्राप्त न हो तो रोग का निवारण कैसे हो सकता है!

आत्म हत्याएँ—कुछ कैदी तो जेल में होनेवाले व्यवहार से निराश ही हो जाते हैं, उन्हें जीवन का मोह नहीं रहता, वे मृत्यु का स्वागत करने को उत्सुक रहते हैं, और उसके आने में देरी लगते देखकर वे स्वयं अपने प्राणों का अन्त करने का प्रयत्न करते हैं। कैदियों की इस मनोवृत्ति से अधिकारी परिचित होते हैं, और वे इस विषय में यथेष्ट सतर्क रहते हैं। कैदियों के पास लोहे, पत्थर या रस्ती आदि का टुकड़ा नहीं रहने दिया जाता, प्रति दिन सायंकाल के समय सब की तलाशी ली जाती है, रात को 'वार्डर' लालटेन लेकर चौकसी करता है। फिर भी कभी-कभी आत्म-हत्याएँ होती ही रहती हैं। कैदी जानते हैं कि यदि पहरा वाला किसी को ऐसा प्रयत्न करते देख लेगा तो उन पर और भी बुरी बीतेगी, इस लिये वे किसी प्रकार उसकी आंख बचा कर अपनी कार्रवाई करते हैं, और कोई-कोई अपने दुस्साहस में सफल भी हो जाते हैं। सबेरे जब उनकी गिनती होती है, तो एक कम हो जाता है; जीवित जाग्रत प्राणी की जगह लाश मात्र रह जाती है।

राजनैतिक कैदी—यद्यपि राजनैतिक कैदी प्रायः निस्स्वार्थ, देश-हितैषी और परोपकारी होते हैं, अनेक स्थानों के जेलों में उनके साथ भी बेईमान, चोर, डाकू और हत्यारे आदि की तरह ही वर्ताव किया जाता है। उनका घोर अमान किया जाता है, कभी-कभी तो उन्हें दुर्गंध-युक्त स्थानों में रहने को बाध्य किया जाता है, अथवा उन्हें और तकलीफें दी जाती हैं। इससे जेलों में कई बार सुदीर्घ भूख हड़ताल होती है। समय-समय पर कुछ माई के लाल सदैव के लिये इन बीभत्स और नारकीय लीलाओं से छुटकारा पा जाते हैं।

कैदियों का श्रेणी-विभाजन—बहुत से स्थानों में कैदियों से जुदा-जुदा तरह का व्यवहार किया जाता है। मिसाल के तौर पर अंगरेजों के शासन-काल में, भारत में गोरे कैदियों के साथ तरह-तरह की रियायतें की

गयीं। सन् १९३० से यहां कैदियों की उनकी हैसियत के अनुसार 'ए', 'बी' और 'सी' श्रेणियाँ की जाने लगीं। 'ए' श्रेणी वालों को भोजन-वस्त्र आदि की कई तरह की सुविधायें दी गईं, 'बी' श्रेणी वालों को उनसे कम सुविधाएँ रहीं। 'सी' श्रेणी वाले मामूली हालत में रखे गए। गोरों को जब 'सी' श्रेणी में रखा गया तब भी, उन्हें प्रायः 'बी' श्रेणी वालों की सुविधाएँ दी गईं। भारत के स्वाधीन होने पर गोरे और काले का भेद-भाव उठ गया है। अस्तु, श्रेणी-विभाजन हो या न हो और अगर हो तो उसका आधार क्या हो, यह विचारणीय है। कुछ लोगों का मत है कि 'सी' श्रेणी वालों के भोजन वस्त्र से भी, उच्च श्रेणी वालों का साधारण स्वास्थ्य बना रह सकता है, और जिनका न रहे, उन्हें डाक्टर की सिफारिश पर दूध भी कुछ पुष्टिकर पदार्थ दिए जा सकते हैं। इस प्रकार हैसियत के आधार पर कैदियों का श्रेणी-विभाजन ठीक नहीं, विभाजन तो अपराध के आधार पर होना चाहिए। एक श्रेणी में वे सब अपराधी आ जायें, जो नैतिक पतन के दोषी हों; दूसरी श्रेणी ऐसे अपराधियों की हो जिन के अपराध में नैतिक पतन न हो। दूसरी श्रेणी के लोगों को अधिक से अधिक रियायतें दी जायें, जिनमें पढ़ने लिखने, चिट्ठी भेजने और पाने, मुलाकात करने, खाने-पीने पहिनने आदि की सुविधाएँ हों।

जेल-जीवन का अधिकारियों पर बुरा प्रभाव—जेल के जीवन का प्रभाव उसके अधिकारियों पर भी अच्छा नहीं पड़ता। अधिकारियों का मुख्य विचारणीय विषय वह रहता है कि किसी प्रकार कैदियों को जेल रूपी पिंजरे में सरलतापूर्वक बन्द रखते हुए स्वयं आराम पावें। वे जेलों के अनुशासन सम्बन्धी नियम बहुत कठोर और दया-शून्य बनाते रहते हैं। वे बहुधा चिड़चिड़े, क्रोधी तथा तर्क-शून्य और अविवेकी हो जाते हैं। इससे कैदियों में प्रतिक्रिया और बदले का भाव पैदा होना स्वाभाविक

है। इस पर नियम और कठोर बनाये जाते हैं; फलतः कैदी और अधिक उत्तेजित और अनुशासन-हीन हो जाते हैं। इस प्रकार कैदी और अधिकारी दोनों एक दूसरे के पतन का मार्ग अधिकाधिक प्रशस्त करते रहते हैं। सुपरिन्टेन्डेन्ट, जेलर, दरोगा, हेडक्लर्क, गल्ला-गोदाम का मुन्शी, मिलाईवाला मुन्शी, डाक्टर, जमादार आदि विविध कर्मचारियों ने अन्यान्य बातों में अपनी-अपनी आय बढ़ाने के कैसे विविध और अनुचित उपाय निकाल रखे हैं, इस बात को जेल-परिवार के अनेक सदस्य जानते हैं, और जानते हुए भी कुशलता-पूर्वक छुपाते हैं। कहावत ठीक ही है 'चोर-चोर मौसेरे भाई।' इन लोगों का भन्डा-फोड़ तब ही होता है, जब इस मंडली में से एकाध अपनी स्वार्थ सिद्धि से वंचित हो जाता है, अथवा कोई नया पदाधिकारी उस वातावरण से यथेष्ट प्रभावित न होने के कारण, अपना तथा दूसरों का स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहता।

जनता पर दुष्प्रभाव—जेलों का जीवन केवल कैदियों तथा जेल-अधिकारियों के लिये ही नहीं, सर्वसाधारण जनता के लिए भी अनिष्टकारी होता, है। जेल-प्रथा लोगों के हृदयों से क्षमा, सहानुभूति, दया आदि कम करती रहती है। आदमी एक दूसरे के दंड पाने में तथा कष्ट भोगने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। समाज में सहयोग के भाव की न्यूनता होती है। मुट्ठी भर धनी और 'प्रतिष्ठित' आदमी बड़ी-बड़ी चालाकियों से धनोपार्जन करते हुए उन निर्धन और असहाय व्यक्तियों के दंड पाने से संतुष्ट और सुखी मालूम होते हैं, जो बेचारे भूखे मरते या सर्दी-गर्मी में तड़फते हुए दो मुट्ठी दानों के लिये चोरी करने या झूठ बोलने को बाध्य होते हैं। निर्धन लोग 'सभ्य' समाज की दृष्टि में पतित और घृणित समझे जाते हैं। ऐसे भावों के रक्षण करनेवाले समाज का परमात्मा ही बेली है।

जेल की उपयोगिता की कसौटी; मुक्त होनेवाले कैदियों का जीवन—कोई अस्पताल सुयोग्य कर्मचारियों के हाथ में है

या अयोग्य व्यक्तियों के; इस की जांच करने का सरल और सुबोध उपाय यह देखना है कि वहाँ किसी रोगी को कितना जल्दी ऐसा स्वस्थ करके अपने घर की छुट्टी दे दी जाती है कि फिर उसे सहसा उस अस्पताल में आने की आवश्यकता न रहे। यदि किसी अस्पताल में—चाहे वहाँ टीप-टाप और आडम्बर कितना ही क्यों न हो—एक रोगी, डाक्टर की इच्छानुसार समय व्यतीत करने पर भला चंगा नहीं होता, अथवा उसे केवल अस्पताल की हवा और भोजन ही अनुकूल पड़ता है, वहाँ से बाहर आने पर वह फिर बीमार हो जाता है, और उसे बारंबार अस्पताल में लाना पड़ता है, तो अस्पताल के प्रबन्धकों या संचालकों की अयोग्यता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा।

इसी प्रकार हम जेल के विषय में विचार करें। जेल, अपराधियों को केवल 'अच्छे कैदी' बनाते हैं, परन्तु जब वे कैद की सजा पूरी करके नागरिक जीवन में प्रवेश करते हैं तो मालूम हो जाता है कि वे इस जीवन के योग्य नहीं हैं; जेल में उन्हें 'अच्छा नागरिक' बनना नहीं सिखाया गया। उनके चरित्र और स्वभाव आदि में कुछ सुधार नहीं हुआ, जो परिवर्तन हुआ है, वह गलत दिशा में हुआ है। जेल में वे एक खास ढाँचे में ढल गये थे, उस से उन का अब इस नयी दुनिया में निर्वाह होना कठिन है; और हाँ, अब एक नयी समस्या और भी तो उपस्थित हो जाती है, अब कोई उन का विश्वास नहीं करता। कैद से छूटा हुआ आदमी नौकरी आदि करने जाता है तो सब उसे 'अपराधी' या 'कैद की सजा पाया हुआ' कह कर बुरी तरह दुत्कारते हैं। वह वेचारा सर्वसाधारण के लिये अविश्वास और घृणा का पात्र बन कर, जहाँ-तहाँ मुँह छिपाना चाहता है, पर इससे उसके (तथा उस के परिवार वालों के) पापी पेट का तो काम नहीं चल सकता।

इस प्रकार स्थान-स्थान पर निराशा और चिन्ता का भूत उस के सिर पर सवार रहता है। जेल में रहते हुए, राज्य के प्रति विद्रोह-

भाव उत्पन्न हो गया था, उसने अपने साथियों से कुछ नये-नये हथकण्डे भी सीख लिये थे। वह अब अपने दुस्साहस आदि का खूब प्रयोग करता है। जब तक पुलिस अधिकारियों तथा जनता की आँखों में धूल भोंक सकता है, भोंकता रहता है। दैव योग से यदि फिर गिरफ्तारी का नम्बर आ जाय तो इससे उसका मन मलिन नहीं होता; वह जानता है कि जेल की दुनिया जानी-पहचानी है, इस बार वह अन्य कैदियों में सधारण या नवसिखये का जीवन नहीं बिताएगा, वरन् वह औरों का उस्ताद बन कर रहेगा और उनके समुख खूब डींगें मारनेवाला, अभिमानी और साहसी होगा।

अस्तु, अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो कई बार जेल भेजे जाने पर भी अपराध करते रहते हैं। फिर भी अधिकारियों के पास उन्हें जेल भेजने के सिवाय और कोई उपाय नहीं होता। गोरखपुर का २ जुलाई १९५० का समाचार पढ़िए ? ६५ वर्षीय रामबली को जेल-यात्रा अत्यन्त प्रिय लगती है। ५२ वर्ष पूर्व सन् १८९८ रामबली को चोरी के अभियोग में सर्व प्रथम जेल की हवा खानी पड़ी थी। तब से वह ३२ बार जेल काट चुका है। आधे से अधिक जीवन जेल में बितानेवाले इस रामबली को यहां के जुडी-शियल मजिस्ट्रेट ने गत शुक्रवार को ३३ वीं बार फिर डेढ़ साल के लिए साइकल की चोरी के अभियोग में जेल भेजा। १३ जेल की सजा की अनुस्यूगिता का यह कैसा प्रभावशाली दृष्टान्त है !

आर्थिक दृष्टि से विचार --जेलों में सारी कैद वालों से तो कुछ आय होती ही नहीं। सख्त कैद वालों के श्रम—चक्की पीसने, कपड़ा दरी कुर्सी आदि बुनने, या बाग लगाने आदि से जो आय होती है, वह बहुत सधारण सी होती है। और दोनों प्रकार के कैदियों पर जो खर्च होता है वह

बहुत अधिक होता है, यद्यपि साधारण कैदियों के भोजन-वस्त्र आदि में बहुत कंजूसी बर्ती जाती है। खर्च की अधिकता का कारण जेलर, सुपरिन्टेन्डेंट आदि कर्मचारियों का वेतन है; और आमदनी कम होने का कारण यह है कि कैदी अपना काम बहुधा अधिकारियों के भय से करते हैं, उन्हें ऐसे कार्य करने के लिये बाध्य किया जाता है, जिनका उन को बिल्कुल अभ्यास नहीं होता। ऐसे कार्य में कैदियों के अंग, हाथ-पांव यंत्र की भांति चलते हैं, उनका मन उसमें नहीं होता। वे प्रायः केवल इस बात का ध्यान रखते हैं कि अधिकारियों की दृष्टि में, उन के काम की गिनती हो जाय, वैसे वह चाहे जितना रही हो। ऐसी भावना से जो काम किया जाता है; वह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो ही कैसे सकता है? उसमें कच्चा सामान बहुत अधिक खराब जाना तथा तैयार माल के बाजार में अच्छे दाम न उठना स्वाभाविक ही है।

कैदियों की कार्यपद्धति से नैतिक हानि—कैदियों की वर्तमान कार्यपद्धति आर्थिक दृष्टि से हानिकर है, परन्तु इस से भी अधिक हानि नैतिक दृष्टि से होती है। कैदियों में स्वावलम्बन का भाव नहीं रहने पाता; उनकी योग्यता और शक्ति का विकास होना तो दूर रहा, उनका हास होता है; वे अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिये अधिकारियों की कृपा के आश्रित रहते हैं, कुछ खाने पहनने को मिले, वही स्वीकार करना होता है। उनकी इच्छा या रुचि का प्रश्न ही नहीं रहता, उन्हें इनका दमन करना पड़ता है।

इस पद्धति की तर्क-शून्यता—जेलों का उद्देश्य अपराधियों का सुधार करना है, यह कथन तो इसी बात से कट जाता है कि प्रत्येक कैदी को निर्धारित अवधि तक जेल में रहने के लिये बाध्य किया जाता है। न्यायाधीश एकबारगी तय कर देते हैं कि इस अपराधी को डेढ़ साल, इसे दस महीने, और उसे ढाई महीने जेल में रहना ही होगा; चाहे वे इतने समय में बिल्कुल ही न सुधरें (और भी बिगड़ जाय), अथवा उनमें

प्रथम दिन ही ऐसा प्रतीत हो जाय कि उसकी अपराध करने की मनोवृत्ति बिल्कुल नहीं है, कोई विचारवान डाक्टर पहले से ही यह आग्रह नहीं करता कि रोगी को अमुक अवधि तक अस्पताल में रहना पड़ेगा। वह उस अवधि का कुछ अनुमान तो करता है और भावी परिस्थितियों के अनुसार उसमें संशोधन करने के लिए सदा तैयार रहता है। पर जेल-प्रणाली में यह बात कहाँ वह तर्कशून्य है

विशेष वक्तव्य—यद्यपि उस समय का आना अनिवार्य है जब जेल-प्रथा केवल एक इतिहास की वस्तु रह जायगी, उन सुधारों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, जो इसी समय, इस प्रथा के रहते हुए ही, अमल में आने चाहिये, संक्षेप में निम्नलिखित हैं।

१—सामाजिक-आर्थिक वातावरण सुधारने का सिलसिलेवार प्रयत्न किया जाय।

२—मुकदमे के फैसले से पहले अभियुक्त को यथा-सम्भव जमानत पर छोड़ा जाय, हवालात में न रखा जाय। जिन अभियुक्तों को कैद की सजा हो, उन्हें यदि पहले हवालात में रखा गया हो तो हवालात का समय कैद में गिना जाय।

३—अपराधियों को कैद की सजा कम-से-कम दी जाय, जितना देना बहुत ही जरूरी हो। उन्हें बीच में शर्त पर छोड़ कर देखा जाया करे। ज्योंही यह मालूम हो कि वे समाज-विरोधी कार्य नहीं करेंगे, उन्हें पहले कुछ दिन सहायभूति रखने वाले कार्यकर्ताओं की देख-रेख में, और पीछे स्वतंत्र रूप से रहने दिया जाय।

४—बीस साल तक के आदमियों को जेल में न भेज कर अपराधी सुधारक-संस्थाओं में भेजा जाय, जिनके बारे में आगे सत्ताईसवें परिच्छेद में लिखा गया है।

५—जेल में कैदी से बदला लेने की भावना न रहे। उसकी शारीरिक और मानसिक अवश्यकताओं की पूर्ति की यथा-सम्भव व्यवस्था की जाय।

उसे भोजन-वस्त्र यथेष्ट दिया जाय । उसे समय-समय पर अपनी स्त्री और बच्चों से एकांत में मिलने तथा उनसे पत्र-व्यवहार करने का अवसर दिया जाय । उसके खेलने और पढ़ना-लिखना सीखने की व्यवस्था की जाय । शिक्षित कैदियों को समाचार-पत्र और पुस्तकें पढ़ने को दी जाय ।

६—कैदियों से उनकी रुचि और योग्यतानुसार उत्पादक कार्य कराया जाय । उनके श्रम से होने वाली आय में से, उनका खर्च निकलने पर जो शेष रहे, वह उनके परिवार को भेजी जाय, अथवा उन्हें जेल से छूटने के बाद सहायता के रूप में दी जाय । इस बात का भी प्रबन्ध किया जाय कि कैद से छूटने पर कोई व्यक्ति बेकार न रहे ।

हम याद रखें कि कैदी भी राज्य के नागरिक हैं । अपराध करने के कारण कुछ समय के लिए ही उनकी कुछ स्वतंत्रता अपहरण करना अभीष्ट है । भविष्य में उनके अच्छा नागरिक बनाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली जानी चाहिए ।

—:०:—

सातवां परिच्छेद

नजरबन्दी, कालापानी और देश-निर्वासन

—:०:—

“काले पानी की सजा से तो फाँसी ही अच्छी । जिन्दगी भर घुलने से तो थोड़ी देर का कष्ट, चाहे वह कितना ही भयानक क्यों न हो, अच्छा समझा जाना चाहिए ।”

नजरबन्दी—पिछले परिच्छेद में कैद की सजा का विचार हो चुका है । कैद वह ही व्यक्ति जाता है जिस पर मुकदमा चल चुका है,

और जो न्यायालय से दोषी प्रमाणित हो चुकता है। परन्तु बहुत से राज्यों में अनेक व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिन पर कोई अभियोग नहीं चलाया जाता, जिन्हें अपनी सफाई देने का अवसर नहीं मिलता, जो अधिकारियों के सन्देह के कारण ही अपनी स्वतंत्रता से वंचित कर दिये जाते हैं और किसी खास स्थान में, और वहां भी बहुत बन्धनों के साथ, रहने को बाध्य किये जाते हैं। ये नजरबन्द कहलाते हैं। नजरबन्दों को यह मालूम नहीं होता कि उन्हें किस अपराध के लिये दंड दिया जा रहा है। उनके भोजनादि की व्यवस्था यथेष्ट सुखकर नहीं होती। और, उन के लिये इस से भी बड़ा कष्ट तो यह होता है कि वे अपने भक्ति-भाजन स्वदेश की सेवा करने से वंचित रहते हैं। उन्हें उसके सुख-दुख का यथेष्ट समाचार नहीं मिलता। वे अपने मानसिक और शारीरिक रोगों में अपने परिवार और मित्रों की सहानुभूति और सहायता भी नहीं पा सकते।

राज्य के लिये दुष्परिणाम—कभी-कभी माता-पिता उन बच्चों को पीटा करते हैं जो उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करते हैं। परन्तु अबोध बालक यह बात नहीं समझते कि उनका 'अपराध' क्या है। इन माता-पिताओं के कार्य का कोई समझदार आदमी समर्थन नहीं कर सकता। वे अनुभव-शून्य हैं। अब उन राज्यों को क्या कहा जाय जो सभ्य और बुद्धिमान होने का तो दावा करते हैं परन्तु अपने प्रौढ़ आयु के समझदार और शिक्षित व्यक्तियों तक को, बिना उन का अपराध बतलाए, दंडित करते हैं।

नजरबन्द व्यक्ति तो अपने आपको निर्दोष मानते ही हैं, अन्य बहुत से नागरिक भी प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् अदालती कार्रवाई के अभाव में उन्हें निरपराध समझते हैं। ज्यों-ज्यों किसी राज्य में नजरबन्दों की संख्या बढ़ती है, साधारण नागरिकों की यह धारणा बढ़ती जाती है, कि राज्य अब निरपराध को दंड देता है, यहाँ से न्याय उठता जाता है। कुछ नागरिक तो यह भी सोचने, और कभी-कभी कहने तथा गोल-मोल शब्दों

में लिखने भी लगते हैं कि राज्य के पास इन लोगों पर मुकदमा चलाने के लिये पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं, या उस में इतना साहस नहीं है जो इन पर मुकदमा चला सके, राज्य इतना निर्बल है कि इन लोगों के स्वतंत्र जीवन के व्यवहार को सहन नहीं कर सकता। ये सब बातें राज्य के लिये अहितकर हैं। राज्य का प्रबल आधार नागरिकों का संतोष होता है। वह इतना दृढ़ होना चाहिए कि मुट्ठी भर आदमी उसे हिला-डुला न सकें। उस का शासन ऐसे उदार सिद्धान्तों पर, और प्रजाके बहुमतानुकूल होना चाहिए कि नजरबन्दी का अवसर ही न आए। परन्तु खेद है कि कितने ही राज्य इस ओर ध्यान नहीं देते। कल्पना करो कि एक नगर में, रोग के कीटाणुओं का दूर न कर, वैद्य लोग किसी एक आध रोगी को बस्ती से दूर कर देते हैं तो क्या केवल इससे अभीष्ट सिद्धि होगी ! परन्तु संसार के कितने ही राज्य बहुत बड़े पैमाने पर ऐसे प्रयोग करते आ रहे हैं, और अब बीसवीं शताब्दी के इस जागृति-कालमें भी कर रहे हैं।

नजरबन्दी की व्यर्थता—अपने आप को निर्दोष समझने और कहनेवाले, तथा न्यायालय से भी अपराधी न ठहराये जाने के कारण सर्वसाधारण की दृष्टि में भी निरपराध माने जाने वाले व्यक्तियों को नजरबन्द करके, यह आशा करना कि वे 'सन्मार्ग' पर आ जायेंगे और 'अपराध' करना छोड़ देंगे, बालू से तेल निकालने के समान है। नजरबन्दी के दण्ड से, राज्य अपने आपको अपने, अनेक पुरुष-स्त्रियों के उपयोग से वंचित कर लेता है, वह उनकी प्रतिभा बढ़ने में बाधक हो जाता है, और साथ ही अन्य नागरिकों की सहानुभूति से क्रमशः वंचित होता है, वह उन्हें अपनी निर्बलता का परिचय देता है, और कुछ अंश में निर्बल होता भी जाता है। संसार के लिये क्या ही अच्छा हो, यदि विविध राज्य अपने नजरबन्द किये जानेवाले व्यक्तियों की योग्यता और विचार-शक्ति आदि से यथा सम्भव लाभ उठाने की चेष्टा किया करें। अस्तु, नजरबन्दी के दण्ड की व्यर्थता स्पष्ट है।

कालापानी—यद्यपि बहुत से देशों से कालेपानी की सजा उठ गयी तथा उठती जा रही है, तथापि वह पूर्ण रूप से नहीं उठी है, और कुछ राज्यों के अनेक व्यक्ति इस समय इस सजा को भुगत रहे हैं। अतः इस विषय में कुछ विचार किया जाना आवश्यक है। कालापानी लम्बी कैद का ही एक रूपान्तर है। जब अपराध बहुत भारी समझा जाता है; परन्तु साथ ही इतना भारी भी नहीं कि मृत्यु-दण्ड दिया जाना उचित माना जाय, उस दशा में कहीं-कहीं कालेपानी का दण्ड निर्धारित किया जाता है।

कैद से, एक विशेष भेद—कैद और कालेपानी में एक विशेष भेद है। कैदियों को जिन लोगों से काम पड़ता है, जिनकी संगति में रहना होता है, उन की चाल-ढाल, भाषा व्यवहार, रहन-सहन आदि से वे थोड़े बहुत परिचित होते हैं। परन्तु कालेपानी में सब कुछ इसके विपरीत होता है। वहां दूसरी ही बोल-चाल, दूसरा ही चलन और रहन-सहन, सब-कुछ दूसरा ही दूसरा, आदमी अधिकांश अपरिचित। वहां भेजे जानेवाले को बात-बात में यही अनुभव होता है कि मैं मातृ-भूमि की गोद से दूर, एकान्त में पड़ा हूँ, यहाँ मेरा कोई नहीं। वहां के मकान और हवा-पानी में विदेशीपन की सी गन्ध आती है, वहां के प्राकृतिक दृश्य, सूर्य चांद तारों में भी कुछ अपरिचितपन का आभास मिलता है।

कालेपानी का दण्ड भुगतने वाले के लिए उस का स्वास्थ्य बिगाड़ने के वे सब साधन विद्यमान होते हैं, जिनकी सहज कल्पना हुआ करती है। उसका खानपान तो जैसा होता है, होता ही है; बहुधा उसे अच्छे हवा-पानी के स्थान में रहना भी नहीं मिलता। कालेपानी के लिये चुनी जाने वाली जगहें प्रायः होती ही ऐसी हैं, जिन का जल-वायु अच्छा न हो, जहाँ बीमारियाँ ही नहीं, मृत्यु-संख्या भी प्रायः अधिक होती हो। कुछ आदमी विविध शिकायतों के प्रतिवाद-स्वरूप भूख-हड़ताल भी करते हैं। इससे वहां की स्थिति का कुछ अनुमान हो सकता है।

नैतिक भोजन का अभाव—कालेपानी भेजे जाने वाले अभागों के नैतिक भोजन की तो अत्यन्त ही दुर्दशा होती है। भले आदमियों का, उंचे विचार वालों का, सभ्य और शिक्षित आदमियों का, वहां काम ही क्या है ! वहां तो एक से एक अधिक घातक कार्य करनेवाला डाकू, हत्यारा, या षड़यंत्र रचनेवाला होता है। इनमें जब कभी कोई शिक्षित और सभ्य पुरुष चला भी जाता है, तो उस बेचारे को वहां अपना समय काटना दूभर प्रतीत होता है। वह चहुँओर के दूषित वायु-मंडल का चिरकाल तक सामना नहीं कर सकता, कुछ दशाश्रों में अपनी इच्छा से, और कुछ दशाश्रों में अपनी इच्छा के विरुद्ध, वह इस नवीन वातावरण के अनुकूल बनने लग जाता है। जो व्यक्ति असाधारण शक्ति सम्पन्न हो, उसकी बात अलग है, पर ऐसा व्यक्ति कोई हजारों में एक-आध ही होता है, उसे अपवाद-स्वरूप समझ लेना चाहिए।

अपने शारीरिक कष्टों के, मानसिक भोजन के अभाव के, और सब से अधिक विदेशीपन से भरे हुए वातावरण की बातों के, चिन्तन से किसी-किसी मनुष्य के मस्तिष्क पर बहुत हानिकर प्रभाव पड़ता है। उसकी बुद्धि मन्द हो जाती है। उसमें कुछ पागलपन-सा आ जाता है। यदि उसका वश चले तो प्रायः वह कोई ऐसा कृत्य करने में संकोच न करेगा, जिससे उसकी मृत्यु हो जाय, और वह इस हर घड़ी के कष्ट से छुटकारा पा जाय।

कालापानी मृत्यु-दंड से भी बुरा है—यद्यपि कानून में कालेपानी का दंड मृत्यु-दंड से कुछ हल्के दर्जे का समझा जाता है, परन्तु अनेक विचारवान पुरुषों की दृष्टि में यह उससे कहीं अधिक कठोर है। यदि इस के दुष्परिणामों का कुछ ठीक अनुमान हो जाय तो अनेक आदमी इसे मृत्यु-दंड से अच्छा या नर्म न समझें, क्योंकि 'अपने देश की धरती और आकाश से, वायु और प्रकाश से, दूर रहना मनुष्य को प्रति दिन एक नयी मौत का मजा चखाता है।'

इस दंड से 'अपराधी' के सुधार की तो गुंजायश ही नहीं—उसका जितना पतन हो जाय थोड़ा है। इस के अतिरिक्त कालेपानी के 'अपराधियों' की व्यवस्था करने वाले अधिकारी भी गौण रूप से इस दंड के घातक परिणाम से मुक्त नहीं रह सकते। हर समय हिंसक जानवरों के पास रहने से, और उनकी ही देख-रेख में लगे रहने से मनुष्य के कुछ मानवी गुणों के हास होने की सम्भावना होती है। उसी प्रकार ऐसे 'घोर अपराधियों' के वातावरण में रहने वाले, और विशेषतया उन्हें दंड देने की व्यवस्था की चिन्ता में लवलीन, अधिकारी को भी अपने मानसिक या आत्मिक उत्थान का मार्ग निकालना कठिन है, पतन तो सन्मुख ही है।

स्वभाव-विरुद्ध जुर्म—छोटी उम्र के अपराधियों का कालेपानी की सजा देने से वे हानियां तो हैं ही, जो जेल की सजा से होती हैं, उन के अतिरिक्त यह भयंकर हानि और भी है कि इससे वहाँ स्वभाव-विरुद्ध जुर्म की वृद्धि होती है। यद्यपि यह बुराई कुछ अंश में जेलों में भी रहती है, पर कालेपानी में तो यह अतिशय मात्रा में होती है, और होना स्वाभाविक है। इसका विशेष कारण जैसा कि श्री भाई परमानन्द जी ने लिखा है,⌘ यह है कि वहाँ लोगों का भिन्न-भिन्न प्रदेशों से लाया जाता है, जिन में से कई कठोर चित्त और स्वभाव से ही बदमाश होते हैं। कुछ आदमी प्रायः कोमल प्रकृति के होते हैं। इन में से जो छोटी आयु के होते हैं, उन को डरा कर, नई जगह में काम की सख्ती दिखा कर, या कुछ लालच दे कर बिगाड़ना बहुत साधारण बात है।

इन बातों का विचार करके, क्या भिन्न-भिन्न राज्यों के अधिकारी अपने यहाँ के कानून से कालेपानी की सजा, विशेषतया अहिंसक अपराधियों के लिये, सर्वथा उठाने की कृपा करेंगे ?

⌘ 'काले पानी की करावास कहानी' ।

समाज-रक्षा का विचार—

कल्पना करो कि किसी आदमी का स्वभाव या आदत ऐसे अपराध करने की पड़गयी है जिन के लिये आज-कल कालेपानी की सजा दी जाती है। क्या उस से समाज की रक्षा करने के लिये कालेपानी का दण्ड न दिया जाना चाहिए? हमने अन्यत्र बताया है कि अपराधी स्वभाव वालों को मनोविज्ञान वेत्ताओं की देख-रेख में रखा जाना चाहिये। उनके लिये नये ढंग के मानसिक चिकित्सालयों की व्यवस्था होनी चाहिये। ये 'औषधालय' सात समुद्र पार कालेपानी में रखने की आवश्यकता नहीं, ये तो मातृभूमि में ही, कहीं सुन्दर प्राकृतिक दृश्य वाली भूमि में, वस्ती या आबादी से कुछ दूर होने चाहिए। इनके अधिकारी व हृदय-हीन और कानून के पंडित होने की जरूरत नहीं, वे तो सहानुभूति-पूर्ण दयालु, मनुष्य-स्वभाव को सुधारने में दक्ष, मनोविज्ञान के आचार्य होने चाहिये। निदान, समाज-रक्षा के विचार से भी कालेपानी के दण्ड की पद्धति अनावश्यक और अनुचित है।

पहले कहा जा चुका है कि कालापानी लम्बी कैद का ही एक विशेष रूपान्तर है; और, कैद के दोष हम पहले ही बता चुके हैं। इस लिए काले पानी के विषय में कुछ और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

देश-निर्वासन—कुछ राज्यों में विशेषतया राजनैतिक अपराधों के अपराधियों को देश-निर्वासन का दंड दिया जाता है, अथवा कुछ खास प्रकार के अपराधी जब कहीं दूसरे देश में चले जाते हैं तो उन्हें राज्य अपनी सीमा में नहीं आने देता। इन के खान-पान, रहन सहन, आदि की वह राज्य कुछ चिन्ता नहीं करता। यदि ये अपने व्यवहार-कौशल या योग्यता से दूसरे राज्य में अपना कुछ स्थान बना सकें तो इन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है, अन्यथा उनका निर्वाह होना भी कठिन है, फिर उन्हें मातृ-भूमि से दूर रहने और उसकी सेवा करने से वंचित होने का जो मानसिक कष्ट होता है, वह तो वहां अनिवार्य ही है।

निर्वासित व्यक्ति प्रायः परिपक्व अवस्था वाले ही होते हैं, इस लिये यह आशा तो करनी ही नहीं चाहिये कि इस दंड से वे अपना मत बदल देंगे और उनका कुछ 'सुधार' हो जायगा। अनेक मनुष्यों का यह स्वभाव होता है कि जब उनके विचारों का विरोध होता है, या जब उन्हें अपने विचारों के लिये कष्ट उठाना पड़ता है, तो वे अपने विचारों में और भी अधिक दृढ़ हो जाते हैं। यह बात अनेक देश निर्वासितों के बारे में चरितार्थ हुई है। इस प्रकार निर्वासन का दंड, जहाँ तक निर्वासितों का सम्बन्ध है, सुधारक नहीं होता।

राज्य की दृष्टि से—इस दंड से अन्य नागरिकों के स्वतंत्र चिन्तन में बाधा उपस्थित होना तथा उनमें से कुछ की निर्वासितों के प्रति सहानुभूति हो जाना स्वाभाविक ही है। और, यह बात राज्य के लिये अन्ततः अच्छी नहीं है। इसके अतिरिक्त जब निर्वासित व्यक्ति अन्य राज्यों की शरण लेते हैं और वहाँ अनेक आदमी इन के सम्पर्क में आने लगते हैं तो निर्वासन करने वाले राज्य की निन्दा होती है, और उस के विषय में विश्व-व्यापी लोकमत प्रतिकूल होने में सहायता मिलती है। यह ठीक है कि कुछ राज्य इस विषय में विशेष चिन्ता करते हुए मालूम नहीं होते; परन्तु जिस प्रकार व्यक्तियों के लिये लोक-लाज का विचार रखना उचित है, उसी प्रकार राज्यों को भी विश्व-परिवार में अपने मानप्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद

फांसी

—:०:—

‘सब प्रमाणों से यह प्रकट है कि प्राण-दण्ड वास्तव में अपराधनिवारक नहीं होता। यह पशुत्व-पूर्ण कृत्यों के लिये बाधक न होकर उत्तेजक ही होता है। ... इस दण्ड को उठा देने के पक्ष में स्पष्ट निर्णय हो जाने से देश में नैतिक दृष्टि से उत्तम प्रभाव होगा।’

—‘डेली हेरल्ड’

प्राचीन काल में प्राण-दण्ड की अधिकता—संसार में प्राण-दण्ड चिरकाल से प्रचलित है। पहले तो यह दण्ड बहुत ही अधिक दिया जाता था। ऐसे कितने ही अपराधों के लिये, जो आज-कल बहुत हलके या साधारण समझे जाते हैं, पहले प्राण-दण्ड का ही विधान था। पाश्चात्य संसार में इंगलैण्ड स्वतंत्रता की जन्म-भूमि होने के लिये प्रसिद्ध है तथापि वहाँ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डेढ़ सौ से अधिक प्रकार के अपराध ऐसे माने जाते थे, जिनके लिए कानून से प्राण-दण्ड दिये जाने की व्यवस्था थी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक की बात है कि वहाँ एक शिलिङ्ग (लगभग बारह आने) से अधिक मूल्य की वस्तु चुराने वाले को फांसी की सजा देने का नियम था। राज-धर्म से भिन्न किसी अन्य मत को मानना भी अनेक देशों में बहुत समय तक ऐसा अपराध रहा है, जिसके लिए आदमियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था।

जादू-टोने या जालसाजियों के अपराधियों को भी पहले फांसी मिलने की प्रथा रही है। पार्लिमेंट के सदस्य शायद अपनी चारित्र सम्बन्धी श्रेष्ठता दिखाने के लिए मृत्यु-दंड-योग्य अपराधों की संख्या बढ़ाने को उत्सुक रहते थे।

प्राण-हरण की क्रिया—प्राचीन काल में प्राण-दंड के लिए कहीं-कहीं खूब धूम-धाम की जाती थी। इसका मानो एक उत्सव सा होता था। इस दण्ड की विधि भी एक से एक अधिक अनोखी और क्रूरता-पूर्ण थी। कहीं मनुष्यों को दीवार में चुना जाता था, कहीं वे रथ या गाड़ी के पहियां अथवा हाथियों के पावों के नीचे कुचले जाते थे, कहीं पेड़ों से बांधकर या कुछ हिस्सा जमीन में गाड़कर कुत्तों आदि से कटवा दिए जाते थे, कहीं पत्थर और इंटों की वर्षा द्वारा अपराधी के प्राण-हरण किये जाते थे। सूली या सलीब पर चढ़ाना, विष पिलाना, जल्लाद के खंजर द्वारा सिर धड़ से अलग करना या गले में फांसी का फन्दा लगाना, औटते हुए तेल की कढ़ाई में, अत्यन्त गर्म लोहे के तवों पर या चिता में बैठा कर जला देना मामूली बात थी। अकेले प्रहलाद की ही कथा से मालूम हो जाता है कि भारत में मृत्यु-दण्ड देने के अनेक ढंग प्रचलित रहे हैं। यद्यपि इनमें से कुछ बातों ने अब भी मानव-समाज का पिंड नहीं छोड़ा है, तथापि सभ्य देशों में इनमें से अधिकांश निन्द्य और त्याज्य हैं। अब किसी को तड़पा-तड़पा कर मारने से आदमी मानों उकता गये हैं। और, जल्दी से जल्दी, बिना आडम्बर के ही यह क्रिमा निपटा दी जाती है। उन्नत पाश्चात्य राज्यों में प्राण-दण्ड के अपराधी को बिजली की कुर्सी पर बैठाया, और क्षण भर में प्राण पखेरू उड़े। अब तो 'सुगन्धित' गैस से भी अपराधी को मारने का प्रयोग होने लगा है। एक सेकिंड के भीतर आदमी बेहोश हो जाता है, और बिना कुछ कष्ट पाए मर जाता है।

लोगों का अन्ध विश्वास—दुनियाँ में अधिकांश आदमी आँख मीच कर चलते प्रवाह में बहजाने वाले होते हैं। प्रवाह की दिशा ठीक

है या नहीं, इसे सम्यग् विचार कर अपना कर्तव्य निश्चित करनेवाले, आवश्यकता हो तो प्रवाह के विरुद्ध चलनेवाले, व्यक्ति इने गिने-होते हैं। यह बात प्राणदण्ड के विषय में विशेष रूप से चरितार्थ होती है। यह जिस प्राचीन काल से आरम्भ हुआ; तब से अधिकांश आदमी इसके प्रत्यक्ष या गौण रूप से समर्थक ही होते आये हैं। साधारण लोगों का ऐसा अन्ध-विश्वास होता है कि जो कुछ कानून कहता है, वह दुनिया भर के समझदारों की सम्मति है, उसके विरुद्ध कुछ कहना-सुनना नहीं चाहिए। वे कानून को पीर-पेगम्बरों के शब्दों की तरह मान्य, और उसमें तर्कवितर्क करने वाले को विकृत-मस्तिष्क समझते हैं। इस प्रकार जो आदमी यह कहने का साहस करता है कि फांसी का दण्ड उठा देना चाहिए, उसका कुछ आदमी उपहास करते हैं, बहुत से उसकी बात सुनी-अनसुनी कर देते हैं, कुछ थोड़े से ही उस पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करते हैं।

विचारणीय बात—अनेक बार अच्छे योग्य व्यक्ति भी विशेष परिस्थिति-वश या क्षणिक आवेश या उत्तेजना में आकर किसी की हत्या कर बैठते हैं। उस घटना के कुछ समय बाद फिर वे अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाते हैं, वे भलेमान्स बन जाते हैं, उनसे किसी और हत्या होने की सम्भावना मालूम नहीं होती, वे पहले की हुई हत्या पर घोर दुःख, या पश्चाताप का अनुभव करते हैं। इसके फल-स्वरूप अनेक के मन में समाज या राज्य की, त्याग और कष्ट-सहन पूर्वक, वृहत् सेवा करने की भावना का उदय हो सकता है। ऐसे आदमियों को फांसी देने से क्या लाभ !

प्राण-दंड का फल—जिस व्यक्ति को प्राण-दंड दिया जाता है, उसका तो इससे कुछ सुधार होता ही नहीं, उसके लिये प्रायश्चित्त या आत्मोन्नति करने का अवसर ही नहीं रहता। सम्भवतः उसके लिये यह कोई दंड ही नहीं होता। प्राण निकलने के समय तक उसे भले ही कुछ चिन्ता सी हो, पीछे तो सभी दुखों से उसका छुटकारा हो जाता है।

यदि अपराधी ने किसी का खून किया है, तो जिसका खून हुआ है उसकी जान वापिस नहीं आ सकती। सम्भव है, उसके कुटुम्बियों को यह जानकर कुछ सन्तोष हो कि जिस व्यक्ति ने हमारे प्रिय जन का हम से वियोग कराया है, वह भी संसार में नहीं रहा। परन्तु, क्या इस इतनी बात के लिये खून के बदले मृत्यु-दंड क्षम्य समझा जाना चाहिए ?

मृत्यु-दंड लोगों पर आतंक या रौब जमाने के लिये दिया जाता है। परन्तु युद्धों में भाग लेने या उनका हाल पढ़ने सुनने से तथा अन्य कारणों से यह दंड अपना उद्देश्य पूरा नहीं करता। अनेक आदमियों को प्राण-दंड पाते हुए देखकर या उनका हाल सुनकर भी हत्या आदि के अपराधों में कमी नहीं हो रही है।

जो लोग राज-विद्रोह आदि में मृत्यु-दंड पाते हैं, उनमें से बहुत से हँसते-हँसते मर जाते हैं। उन्हें इस बात की खुशी रहती है कि वे अपने विचार-स्वातंत्र्य के कारण बलि-वेदी पर चढ़ गये ! यदि वे विदेशी सरकार के राज-द्रोह सम्बन्धी कानून के शिकार होते हैं तो उन्हें अपने स्वदेश-प्रेम के कारण मरने में बहुत सन्तोष रहता है।

प्राण-दंड का निराधार समर्थन—हत्या करने वाला क्रोध, आवेश, अज्ञान आदि के कारण ही तो हत्या करता है; क्या किसी राज्य को ऐसा कार्य करना शोभा दे सकता है, जिससे उसमें क्रोध या अज्ञान आदि दुर्गुणों के होने का प्रमाण मिले ? कुछ आदमी कह देते हैं कि लोगों की यह इच्छा होती है कि हत्यारों को फांसी दी जाय, इस वास्ते उन्हें फांसी दिया जाना बुरा नहीं है। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया

ॐ पहले इंगलैड में जब बहुत से अपराधों में जेब काटने के लिये भी प्राण-दंड दिया जाता था—और यह दंड खुले आम दिया जाता था—तो औरों को फांसी पाता देखते हुए भी अनेक आदमी दर्शकों की जेब काटने की क्रिया किया करते थे।

जाय तो कैसा घातक परिणाम होगा ! कुछ आदमी शराब पीने और मांस खानेवालों से ऐसी घृणा करते हैं, कि यदि उनकी चले, तो वे संसार से उनका अस्तित्व हटा दें । कुछ आदमियों के व्यभिचारियों का जीवित रहना ना-पसन्द है । यदि राज्य इन लोगों के मतानुसार कार्य करे तो प्राण-दंड का क्षेत्र कहां तक विस्तृत हो जायगा !

कुछ लोगों का कथन है कि जिन आदमियों को प्राण-दंड दिया जाता है, वे इतने बुरे होते हैं कि समाज के हित के लिए उनका जीवित न रहना ही अच्छा है । अवश्य ही, कुछ संक्रामक रोगों में ग्रस्त व्यक्तियों के रहने के लिए, बस्ती से बाहर एकान्त में व्यवस्था की जाती है, जिससे उनके द्वारा गन्दी होने वाली हवा के कीटाणु अन्य स्वस्थ व्यक्तियों को हानि न पहुँचावें । परन्तु क्या कभी किसी ने यह कल्पना की है कि इन छूत की बीमारियों के रोगियों को एक दम मार ही दिया जाय ? फिर अपराध-रोग के रोगियों से ही, यह निर्दयता-पूर्ण व्यवहार क्यों किया जाता है ! निदान, प्राण-दंड के समर्थन की कोई बात तर्क-संगत नहीं ठहरती ।

प्राण-दंड के दोष—यह तो स्पष्ट ही है कि प्राण-दंड को देखकर ही नहीं, उसकी बात सुनने से भी कभी-कभी लोगों की हिंसक प्रवृत्ति उत्तेजित होती है । फिर, संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है, जिससे भूल नहीं होती या नहीं हो सकती ? विवेकवान व्यक्ति सदैव इस बात का यथेष्ट ध्यान रखते हैं कि भूल मालूम होने पर वे उसका सुधार कर सकें । परन्तु राज्य, अपराधियों को प्राण-दंड देकर, अपना भूल-सुधार का मार्ग पूर्णतया रोक देता है । संसार के इतिहास में समय-समय पर अनेक ऐसे उदाहरण उपस्थित हुए हैं कि एक व्यक्ति हत्या या राजद्रोह आदि के अपराध में प्राण-दंड से दंडित हुआ, अपील हुई, और उस अपील की भी अपील हुई, ऊँची से ऊँची अदालत ने भी प्राण-दंड का ही समर्थन किया, और उस व्यक्ति को फांसी दे दी गई । परन्तु, उसकी मृत्यु

के कुछ समय बाद, ऐसी घटनाएँ सामने आ गईं, जिन्होंने स्पष्ट और असंदिग्ध घोषणा कर दी कि उस व्यक्ति को फांसी भूल से दी गयी, उसके विषय में न्याय नहीं हुआ, अन्याय हुआ। हो सकता है कि कुछ सहृदय जज उक्त फैसले में भाग लेने से, अपने मन में बहुत दुख मानें, वे सोचें कि अगर हम उसे फांसी की सजा न देकर कैद की ही सजा देते तो आज उसकी मुक्ति करा देते और उस निरपराधी से, जो दण्ड उसने बिना अपराध भुगता है, उसके लिये क्षमा मांग लेते। पर अब क्या हो सकता है ! प्रश्न केवल जजों का ही नहीं है। जब नवीन घटनाओं के ज्ञान से सर्वसाधारण यह अनुभव करते हैं कि राज्य के कानून के कारण एक सज्जन, बहुतों का मित्र, अनेकों का निकट सम्बन्धी, बिना अपराध के मारा गया तो वे राज्य के प्रति कैसे भाव रखेंगे, यह विचारने का विषय है। क्या उनकी राज्य-निष्ठा को धक्का न पहुँचेगा ?

न्याय शास्त्रियों का एक सर्वमान्य सिद्धान्त यह होता है कि 'नौ अपराधी भले ही छूट जाय, पर एक निरपराधी को दण्ड न दिया जाय।' प्राण-दण्ड से इस सिद्धान्त पर सर्वथा हरताल फिर जाती है।

प्राण-दण्ड क्रमशः उठता जा रहा है—संसार में समय समय पर ऐसे महानुभावों का आविर्भाव होता रहा है, जिन्होंने प्राण-दण्ड के विषय में स्वतंत्र चिन्तन किया। उन्होंने इस दण्ड की व्यर्थता, क्रूरता तथा पाशविकता स्वयं समझी, और दूसरों को समझायी। विशेषतया योरेप अमरीका में समाचार-पत्रों, ट्रेक्टों, पुस्तकों और भाषणों द्वारा यह लोकमत तैयार किया गया कि इस 'कानूनी हत्या' द्वारा किसी नागरिक को अकाल-मृत्यु का प्रास न बनाया जाय। इस उद्योग के फल-स्वरूप इन महाद्वीपों के बहुत से देशों में-हत्या और राजद्रोह आदि को छोड़कर अन्य अपराधों के लिये वह दण्ड नहीं रहा है; तथा कुछ स्थानों में तो उक्त अपराधों के लिये भी यह दण्ड न देने की व्यवस्था हो गई, अर्थात् प्राण-

दंड पूर्णतः उठ गया है। पुर्तगाल ने सन् १८४६ ई० में यह दण्ड निर्मूल कर दिया था, हालैंड ने १८७० में, इटली ने १८६० में, नार्वे ने १९०२ में, रूस ने १९०३ में, आस्ट्रिया ने १९१८ में, स्वीडन ने १९२१ में, न्यूजीलैंड ने १९२५ में, इसे उठा दिया। दस्थोनिया, लिथुएनिया, लेटविया, सनमारिनो और रूमानिया के छोटे-छोटे देशों की कानून की पुस्तकों से यह दण्ड हटा दिया गया है। दक्षिण अमरीका के ब्राजील, वेंजुएला, आरजंटाइन ने, और, मध्य अमरीका के कोस्टारिका, कोलम्बिया और होंडुरास ने भी इस दण्ड को रद्द कर दिया है। डेनमार्क और वेलजियम तथा फिनलैंड में यह दण्ड कानूनी तौर से हटाया नहीं गया पर व्यवहार में इसका उपयोग बहुत ही कम हुआ। संयुक्त-राज्य अमरीका की कई रियासतों में भी ऐसी ही परिस्थिति है।

आशंका निर्मूल प्रमाणित हुई—बहुत से आदमियों को यह आशंका होती है कि यदि कानून से प्राण-दंड उठा दिया जायगा तो राज्य में हत्या-मूलक अपराधों की भरहमारो ने लगेगी, किसी की जान-माल सुरक्षित न रहेगी। परन्तु जिन भू-भागों से प्राण-दंड की प्रथा हटायी गयी, उनमें से केवल दो में—इटली और रूस में ही इस दंड का पुनः प्रचलित करने का अवसर आया, और इसका कारण भी वहाँ कि विशेष सामाजिक परिस्थिति थी। अन्य किसी भी देश में इस विषय के निर्णय को बदलने की आवश्यकता न हुई। वहाँ के प्रात अंकों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि प्राण-दंड प्रचलित रहने के समय की अपेक्षा, उसके उठायें जाने के बाद, अपराधों की संख्या कम हो गयी है।

इङ्गलैंड में प्राण दंड की व्यवस्था—प्राण-दंड उठाने की विविध मंजिलों के सम्बन्ध में इङ्गलैंड का इतिहास बड़ा मनोरञ्जक

॥ V. F. Calverton के एक लेख के आधार पर।

है। ॥ सम्राट जार्ज तृतीय के समय (१७६०-१८२०) में उन अपराधों की संख्या २०० थी, जिन में प्राण-दंड की व्यवस्था थी। अपराधी चाहे १२ वर्ष का अभोध बालक हो, अथवा ८४ वर्ष का जराजीर्ण और रोगी पुरुष, यदि उसके विरुद्ध प्राण-दंड वाला अपराध प्रमाणित हो जाता तो फिर उसे छोड़ा नहीं जा सकता था, उसे प्राणदंड अवश्य मिलता था। विकृत मस्तिष्क वाले की भी इस दंड से मुक्ति नहीं थी। वे अपराध जिनके लिये फांसी की सजा दी जाती थी, और भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले थे। किसी के बाग में किसी ने अंगूर की बेल काट डाली, या अन्य कोई भाड़ नष्ट कर दिया या जहाजी पेंशनर बनने का जाल किया, कोई कंजरो के साथ घूमता पाया गया, या आम सड़क पर रूप बदले जाता देख पड़ा, अथवा लिखकर जालसाजी करने वाला प्रमाणित हुआ तो उसे फांसी की सजा मिलनी अनिवार्य थी। धीरे-धीरे ऐसे छोटे अपराधों के लिये प्राण-दंड लोगों को क्रूर और कठोर जान पड़ने लगा। सन् १८२३ ई० में २०० के स्थान केवल १०० अपराध ऐसे रखे गये जिनके लिये प्राण-दंड की व्यवस्था थी। फिर भी १८२८ तक किसी के घर में घुसकर चोरी करने, अथवा थोड़ा चुराने एवं कागज-पत्र में जालसाजी करने का अपराधी प्राण-दंड ही पाता था। सन् १८६१ ई० से केवल चार अपराध अर्थात् (१) सरकारी जहाजी अड्डों में आग लगाना, (२) बल-पूर्वक सामुद्रिक लूट-मार करना, (३) राज-द्रोह, और (४) हत्या ही ऐसे अपराध रह गये हैं, जिनके लिये प्राण-दंड का विधान है। पहले दो प्रकार के अपराधों पर विगत ७० वर्ष से कोई मामला ही नहीं चला है, एवं राज-द्रोह के अपराध में बोअर युद्ध के समय के एक व्यक्ति को, तथा विगत महासमर के समय

॥ Horace Wyndham की Criminology पुस्तक की सहायता से लिखित, 'माधुरी' के एक नोट के आधार पर।

एक व्यक्ति को फाँसी हुई है। इङ्गलैंड में इस समय हत्या के अपराध में फाँसी की सजा पाने वालों की संख्या प्रति वर्ष १२ के लगभग है। सन् १८७२ ई० में और इसके बाद कई बार पार्लिमेंट में फाँसी की सजा को उठा देने के लिये प्रस्ताव हुए, पर प्रत्येक बार अस्वीकृत हो गये।

समय-समय पर प्राण-दंड के विषय में यहाँ विचार होता रहा है, और इसके पक्ष और विपक्ष की बातों का गम्भीरतापूर्वक जांच और अध्ययन हुआ है। इस समय प्रयोग के तौर पर पांच-साल के लिए यह दण्ड स्थगित है। इस प्रकार इङ्गलैंड में प्राण-दंड उठाए जाने के पक्ष में लोकमत, चाहे मंद गति से ही क्यों न हो, आगे बढ़ता जा रहा है।

भारत की बात—यद्यपि भारत के नीतिशास्त्रों में, प्राण-दंड न दिए जाने का विधान नहीं है, और यहाँ यह दंड समय-समय पर दिया जाता रहा है, तथापि भारतीय साहित्य में अपराधियों के प्रायश्चित्त का यथेष्ट उल्लेख है। यहाँ तक कि ब्रह्म-हत्या या भ्रूण-हत्या आदि करने वाले महापातकी के लिए भी प्रायश्चित्त की व्यवस्था मिलती है। मनुष्य-हत्या के लिए देश-निर्वासन दंड का भी विधान पाया जाता है, जिसका अर्थ होता था बस्ती से बाहर अपनी अलग कुटी बनाकर रहना। अस्तु, आधुनिककाल में यहाँ प्राण-दंड को कानून से उठा देने के सम्बन्ध में लोकनेताओं ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किए। महात्मा गांधी मृत्यु-दंड को बहुत ही नापसन्द करते थे। आप को अपराधियों और आततायियों के हृदय-परिवर्तन में पूर्ण विश्वास था और आपने इस विश्वास के अनुसार व्यवहार करने में विलक्षण दृढ़ता का परिचय दिया था। तथापि अभी तक यहाँ प्राण-दंड उठा नहीं। भारत के हाईकोर्टों ने १९४४ में ७६२ व्यक्तियों को, १९४५ में ७३६ को; १९४६ में ५३६ को, १९४७ में २७१ को और १९४८ में २६० व्यक्तियों को फाँसी की

सजाएँ दीं। पिछले दिनों भारतीय विधान-सभा में यहाँ यह दंड उठा देने की बात चली थी, पर स्वीकार नहीं हुई।

म० गांधी के हत्यारों को प्राण-दंड—इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने के लिए हम यहाँ राष्ट्रपिता म० गांधी के हत्यारों को दिए जाने वाले प्राण-दंड का विचार करते हैं। म० गांधी की हत्या नाथू राम गोडसे ने ३० जनवरी १९४८ को गोली चला कर की। इस कार्य में और भी कई व्यक्तियों का हाथ था। न्यायालय से गोडसे और नारायण आप्ते को फांसी की, तथा अन्य अभियुक्तों को विविध अवधियों की कैद की सजा हुई। अपील किए जाने पर हाईकोर्ट और प्रिवी कौंसिल से भी सजाएँ बहाल रहीं। इस पर कितने ही सज्जनों ने यह विचार प्रकट किया कि फांसी देना म० गांधी के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, और अगर म० गांधी गोली लगाने के बाद होश में आजाते तो वे ऐसे व्यक्तियों को अवश्य ही क्षमा कर देते, और सरकार से इन्हें क्षमा करने को कहते। इसलिए इन्हें छोड़ दिया जाना चाहिए। गवर्नर-जनरल के पास इन अपराधियों की ओर से दया की प्रार्थना भी की गई। यदि इन अपराधियों ने अपने कृत्य के लिए वास्तविक पश्चाताप की भावना प्रकट की होती तो शायद उक्त प्रार्थना स्वीकार भी की जाती। परन्तु पश्चाताप करना तो दूर रहा, गोडसे इस कुकर्म का गीता आदि के आधार पर समर्थन करता रहा। इससे गवर्नर-जनरल द्वारा उनका क्षमा न किया जाना ठीक ही हुआ; कारण, यह भी एक प्रश्न था कि अगर म० गांधी जैसे महान व्यक्ति के पश्चाताप-हीन हत्यारों को रिहाई मिल सकती है तो अन्य हत्यारों को जो सम्भवतः पश्चाताप करने को भी तैयार हैं, क्यों न रिहा किया जाय। रही यह बात कि अगर म० गांधी जिन्दा रह जाते तो उनकी इस विषय में क्या सिफारिश होती, अथवा उनकी आत्मा को किस बात से शान्ति मिलेगी, ऐसे प्रश्नों के उत्तर की कल्पना के आधार पर कानूनी निर्णय करना ठीक नहीं होता। वैयक्तिक निर्णय सामाजिक और सरकारी निर्णय नहीं बन सकता।

अस्तु, जब तक देश में हत्या आदि अपराधों के लिए कानून से प्राण-दंड निर्धारित है, तब तक हम जान-बूझ कर की गई हत्या के पश्चात्ताप-हीन अपराधियों को इस दंड से मुक्त किए जाने का समर्थन नहीं कर सकते। तथापि, जैसा कि हमने पहले कहा है हम प्राण-दंड उठाए जाने के पक्ष में हैं, और चाहते हैं कि भारत के दंड-विधान में इस विषय सम्बन्धी संशोधन जल्दी-से जल्दी किया जाय। हम हत्या आदि पापों से घृणा करें, पर पापियों से नहीं।

सभ्यता का तकाजा—ज्यों-ज्यों कोई समाज अधिक सभ्य होता जाता है, वह यदि अन्य प्राणियों के नहीं, तो कम से कम मनुष्यों के जीवन को अधिक पवित्र मानता और उसकी रक्षा करता है। इतिहास बतलाता है कि जब आदमी जंगली हालत में थे तो वे प्रायः एक दूसरे का मांस खाजाते थे, और उन में देवी-देवताओं को मनुष्यों की बलि देने का रिवाज था। जब आदमी अपनी उस अवस्था को पार कर गये तो उक्त नर-संहार का अन्त हुआ। सभ्यता में कुछ और आगे बढ़ने पर एक ही जाति-विरादरी वालों की परास्परिक लड़ाइयाँ तथा घातक द्वन्द्व-युद्ध कम हुए। इस समय भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की, या राष्ट्र-समूहों की लड़ाइयाँ होती हैं, परन्तु प्रत्येक विवेकवान सज्जन का कथन है कि ये लड़ाइयाँ सभ्यता के लिये कलंक हैं, और इनका अन्त होना चाहिये। इस प्रकार, सभ्यता की वृद्धि के साथ जब अन्य प्रकार से होने वाला नर-संहार बहुत निन्दनीय माना जाता है, क्या ही उत्तम हो कि जो प्राण-हरण इस समय दंड विधान से अनुमोदित है, वह भी उठा दिया जाय।

नवां परिच्छेद

दंड सम्बन्धी सिद्धान्त

—:०:—

“दंड व्यवस्था के उन विविध उपायों में से, जो प्रस्तावित हैं तथा कानून द्वारा प्रचलित किये गये हैं, किसी ने अपने समर्थकों की आशा पूरी नहीं की। बनाबटी सजाएं सुधार करने में विफल हुई हैं। अनेक दशाओं में, उन्होंने अपराधों की वृद्धि ही की है।”

—हर्वर्ट स्पेन्सर।

आज कल अपराध-चिकित्सा के लिये जो दण्ड दिये जाते हैं उनके विषय में व्यौरेवार लिख चुकने पर, अब हम दंड-प्रथा की विकास-भावना, उद्देश्य तथा उसके सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

दंड का विकास, प्राचीन भारतीय दंड-पद्धति—दण्ड सम्बन्धी जो सिद्धान्त इस समय माने जाते हैं, उनका क्रमशः विकास हुआ है, इसलिये उनका विचार करने से पहले दण्ड-प्रथा के इतिहास पर एक उड़ती सी नजर डाल लेना ठीक होगा। पुरोहित राज में अपराध का पूर्व रूप पाप था। प्राचीन भारतीय साहित्य में पापों के प्रायश्चित का बहुत उल्लेख है। कितने ही आदमी स्वयं ही अपने दुष्कृत्य के लिए घोर दंड सह लेते थे, या सहने को तैयार रहते थे। वे समझते थे, कि प्रायश्चित करने से शुद्ध हो जायेंगे और अगले जन्म में पाने वाले भयंकर दंड से मुक्त रहेंगे। इस लिए धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित की जो विधि निर्धारित थी,

उसे वे अच्छी तरह पालन करते थे। मिसाल के तौर पर शङ्ख और लिखित की कथा प्रसिद्ध है। लिखित ने अपने भाई शङ्ख के बगीचे से उसकी अनुपस्थिति में फल तोड़े थे, पीछे अपने अपराध का विचार करके उसने स्वयं राजा से कह कर अपने हाथ कटवा लिए।

अनेक दशाओं में प्रायश्चित्त का रूप तीर्थ-यात्रा, गंगा आदि का स्नान, ब्राह्मण-भोजन, दान-पुण्य आदि होता था। इसमें ब्राह्मणों को होने वाला लाभ स्पष्ट था। वैसे भी दंड देने में वर्ण तथा पद का विचार किया जाता था। प्रायः शास्त्रों में ब्राह्मण को अवध्य माना गया है। अनेक अपराधों में उसे साधारण दंड देने का नियम था जब कि शूद्रों को उन्हीं अपराधों के लिए बहुत कठोर या कई गुना अधिक दंड दिया जाता था। संसार में अब तक भी शासकों का पक्षपात किया जाता है, यदि प्राचीन काल में ब्राह्मणों के साथ ऐसा हुआ तो क्या आश्चर्य, वे तो यहाँ शासक नहीं, शासकों के भी शासक थे।

छल-कपट, चोरी, डकैती, धोखा, हिंसा और व्यभिचार के लिए अंग-भंग—हाथ-पैर, या नाक-कान काटने, अथवा अंग विशेष को दाग देने का नियम था। बारम्बार या विशेष अपराध करनेवाले को मृत्यु-दंड तक दिया जाता था। यह दंड कई तरह दिया जाता था। अग्नि-परीक्षा प्रचलित थी। सीता जी की अग्नि-परीक्षा केवल कवि-कल्पना नहीं कही जा सकती। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी यह माना जाता रहा है कि साँच को आँच नहीं। देश काल के अनुसार अग्नि-परीक्षा के विविध रूप रहे हैं। कुछ अपराधों में निर्वासन या देश-निकाले की सजा भी दी जाती थी।

भारत के प्राचीन इतिहास में जेलों का भी वर्णन आया है। कृष्ण जी का जन्म कारागार में हुआ था। जरासंध ने अनेक राजाओं को कैद कर रखा था। हाँ उस समय जेल आज कल की तरह व्यवस्थित नहीं थे। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत में दंड की प्रधानता थी और

दंड काफी कठोर होते थे। मनु ने कहा है कि दंड ही प्रजा की रक्षा करता है। दंड के अभाव में 'मत्स्य-न्याय' चलने लगता है, अर्थात् जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, ऐसे ही बलवान निबल्लों को सताते हैं। यह दंड-व्यवस्था भारत की तत्कालीन परिस्थिति में अवश्य सफल हुई। विदेशी यात्रियों के विवरण से मालूम होता है कि यहाँ प्रजा में शान्ति सुव्यवस्था थी चोरी प्रायः त्रिलकुल नहीं होती थी, आदमी घरों में ताला तक नहीं लगाते थे। कठोर दण्ड प्रणाली की आलोचना आगे की जायगी।

दंड का आदिम रूप : बदला—प्रायः दंड का आदिम रूप अपराधी से बदला लेने का रहा है। कुछ लोगों का मत है मनुष्य में बदला लेने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। आमतौर से देखने में आता है कि जब एक बालक दूसरे को मारता है, तो दूसरा पहले को मारता है, अथवा मारने का प्रयत्न करता है। व्यक्तियों की तरह बदला लेने की प्रवृत्ति समूह में भी देखी जाती है। जब किसी परिवार या कबीले के आदमी को कोई कष्ट देता है तो परिवार या कबीला उसका बदला लेना अपना कर्तव्य समझता है। यहां तक कि कुछ दशा में बदला लेने की भावना अगली पीढ़ियों तक बनी रहती है और दूर-दूर तक फैल जाती है। भारत के एक प्रान्त में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर ज्यादाती होने की बात सुनकर दूसरे प्रान्त के कितने ही हिन्दू अपने यहाँ के मुसलमानों से बदला लेने की बात सोचने लगते हैं।

बदले का रूप—बदले का रूप क्या हो, इसके सम्बन्धमें प्राचीन काल में एक विशेष बात थी; दंड उसी प्रकार का दिया जाय, जिस दंग का अपराध है। इसे कवि जनोचित ('पोयटिक') दण्ड कहा जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी व्यवस्था रही है कि जिस इन्द्रिय से अपराध किया जाय, उसे ही काट दिया जाय या कष्ट पहुँचाया जाय—चोरी करने वाले का हाथ काटा जाय, झूठी गवाही देने वाले की जीभ काटी

जाय, और बलात्कार करने वाले को नपुंसक बना दिया जाय। आग लगाने वाले को जिन्दा जला दिया जाय। यहूदी कानून की 'आँख के बदले आँख, और दाँत के बदले दाँत' की नीति तो कहावत ही बन गई है। स्मरण रहे कि यह नीति पहले के उस कानून से अच्छी ही थी, जिसके अनुसार अपराधी की हत्या करना उचित था।

जर्मनी के दार्शनिक कैंट ने भी बदले की नीति का समर्थन किया। उसका मत था कि अपराध तथा उसके लिए दी जाने वाली सजा में समानता होनी चाहिए और अपराधी ने जो हानि की है उसके अनुसार उसे दंड मिलना चाहिए। यह बात सरल तथा उचित मालूम होने पर भी अनेक दशाओं में व्यवहार में बहुत कठिन है।

बदले पर रोकथाम; कैद और जुर्माना—धीरे-धीरे बदले पर रोकथाम हुई। यहूदियों में मन्दिर या पवित्र स्थान ('सैंक्चुएरी') में पहुँच जाने पर किसी अभियुक्त को उस समय तक दंड नहीं दिया जा सकता था, जब तक कि उस पर लगाए हुए अभियोग का फैसला न हो जाय। अरबों में इस प्रकार का स्थान काबा था। इसी प्रकार कुछ जातियों या सम्प्रदायों में कुछ दिन या तिथियाँ ऐसी ठहराई गयीं, जिनमें बदले की कार्रवाई न हो।

पहले कुछ जातियों में, लड़ाई में हारे हुआओं को मार देने का रिवाज था। कभी-कभी उनके मांस से दावत उड़ाई जाती थी। पीछे उन्हें गुलाम या दास बना कर रखने की प्रथा चली। इसका मुख्य कारण यह था कि पहले उन्हें मुफ्त में खिलाने की अपेक्षा मार डालने में ही लाभ था; पीछे पशुपालन और खेती का आविष्कार हो जाने पर उनसे काम लेने की तरकीब निकल आई। दास ऐसे उपयोगी समझे जाने लगे कि उनकी खरीद-बेच

❁ इसे एक प्रकार से हवालात का प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं।

होने लगी। कई सीढ़ियों तक इनका व्यापार चला। अस्तु, दासता को कैद का पूर्व रूप कहा जा सकता है।

धीरे-धीरे कुछ स्थानों में अपराधियों से कुछ जुर्माना या हरजाना लेकर किस प्रकार उन्हें बदले के नियम से मुक्त करने की प्रथा चली, इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

ऊपर हमने शारीरिक दंड-कैद और जुर्माने की बात कही है। इनमें से हर एक के रूप में समय-समय पर किस तरह परिवर्तन होता रहा है; यह बहुत विस्तार का विषय है। उसमें न जाकर हम दंड के उद्देश्यों का विचार करते हैं।

दंड के उद्देश्य—दंड देने के पक्ष और विपक्ष में लोगों के अनेक विचार हैं। दंड के समर्थन में जो बातें कही जाती हैं, अर्थात् इसके जो उद्देश्य बतलाए जाते हैं, वे मुख्यतया चार हैं:—(१) इससे समाज की अपराधियों से रक्षा होती है अर्थात् यह रक्षात्मक है; (२) दंड को देख-सुनकर दूसरे आदमी भय मानते हैं, वे अपराध करने से रुकते हैं, अर्थात् यह अपराध-निवारक है; (३) इससे अपराधी को अपने किये का फल मिलता है, और, इस बात से, जिसकी हानि हुई हो, उसे सन्तोष होता है, अर्थात् यह प्रतिफल-मूलक है; (४) दण्ड पाकर अपराधी फिर वैसा अपराध न करेगा, वह सुधर जायगा, अथवा यों कह सकते हैं कि दण्ड सुधारक है। अब हम इन विचारों का कुछ स्पष्टीकरण करेंगे और यह भी बतलाएंगे कि इनका दूसरा पहलू क्या है, अर्थात् इन के विपक्ष में क्या वक्तव्य है।

दंड रक्षात्मक है ?—समाज की अपराधियों से रक्षा करने की बात बहुत आदमी मानते हैं। इस विचार से दिये हुए दण्ड का उद्देश्य अपराधी की स्वच्छन्दता में रुकावट डालना, होता है, न कि उसे कष्ट पहुँचाना। यह दण्ड, सिद्धान्त से कष्टदायी नहीं होता; हाँ, व्यवहार में, किसी विशेष कारण से या खास स्थिति में ऐसा मालूम हो, तो बात

तो दूसरी है। उदाहरणवत्, इस विचार से, जेलों का उद्देश्य बाहर वालों की रक्षा करना है, न कि भीतर वालों को दण्ड देना। हो सकता है कि कैदियों को जेल के भीतर बन्द किया जाना पसन्द न हो और वे इसे दण्ड ही मानते हों, परन्तु यह लाचारी है; इसका और कोई मार्ग नहीं, औरों की रक्षा के लिये उनका कैद किया जाना आवश्यक है। यह ऐसी ही बात है, जैसे हम किसी कटखने कुत्ते को बांध कर रखते हैं, हमारी इच्छा कुत्ते को कष्ट देने की नहीं है, परन्तु हम यह अवश्य चाहते हैं कि वह हमारे पास आने-जाने वाले निर्दोष आदमियों को न काटे; इसलिये उसे बांध कर रखना जरूरी है, इसमें भले ही उसे कुछ कष्ट मालूम होता हो। इस प्रकार उक्त सिद्धान्त के अनुसार, कैद आदि का वास्तविक उद्देश्य समाज की रक्षा करना है। पर यह उद्देश्य कुछ स्थायी तौर से पूरा नहीं होता; यह पहले बताया जा चुका है।

२—दंड अपराध-निवारक है ?—इस का आशय यह है दण्ड का उद्देश्य अपराधों की पुनरावृत्ति को रोकना है, इस अर्थ में नहीं कि अपराधी फिर अपराध न करे (यह तो सुधार-सिद्धान्त है), वरन् इस अर्थ में कि दूसरे आदमी वैसा अपराध न करें। इस में मुख्य विचार यह नहीं होता कि अपराधी ने क्या किया है, वरन् यह होता है कि अपराधी को मिलने वाले दण्ड को देख सुन कर दूसरे आदमी अपराध करने से रुकें, जैसे कि खेतों में पक्षियों को डराने के लिये एक पुतला खड़ा कर दिया जाता है, जिससे वे फसल को नुकसान न पहुँचावें। दण्ड का यह सिद्धान्त न्यायाधीश की इस (अंगरेजी) कहावत में सूचित होता है कि 'तुम्हें दण्ड इसलिये नहीं दिया जाता कि तुमने भेड़ चुराई है, वरन् इस लिये दिया जाता है भेड़ें न चुरायी जाया करें, (अर्थात् दूसरे आदमी भेड़ों की चोरी न करें)।' महाशय रस्किन के शब्दों में इस का अर्थ यह है कि जो कुछ तुमने किया है, उसके लिये तो हम तुम्हें क्षमा कर सकते हैं, परन्तु औरों को डराने के वास्ते तुम्हें दण्ड दिया जाना आवश्यक है।

निसन्देह ऐसी योजना बड़ी दूषित या अन्याय-मूलक कही जानी चाहिये, जिसमें एक के लाभ के लिये (भले ही वह एक व्यक्ति न होकर समूह ही क्यों न हो) दूसरे को दण्ड दिया जाय। इसमें इस आदर्श की अवहेलना होती है कि किसी मनुष्य को औरों के लिये साधन न मान कर स्वयं साध्य माना जाना चाहिये।

३—दंड प्रतिकूल-मूलक है ?—कुछ आदमियों का मत है कि अपराधी को उसके किये का फल मिलना चाहिए; जब दूसरे आदमियों की समझ में यह बात अच्छी तरह आ जायगी कि अमुक कार्यों के करने से बुरा परिणाम भुगतना पड़ता है तो वे भी वैसे कार्यों को करने से रुकेंगे। इस सिद्धान्त का मुख्य आधार बदला लेने की भावना है, जो सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ अधिकाधिक निन्द्य मानी जाती है। यह ठीक है कि इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात की आवश्यकता समझते हैं कि बदला लेने में व्यक्तिगत, उत्तेजनात्मक या अज्ञान-मूलक भावों का समावेश न होना चाहिये। जिस व्यक्ति को क्षति पहुँची हो, वह इस कार्य को स्वतन्त्र न्यायालय को सौंप दे, जो इसे निस्पक्ष होकर करे। इस व्यवस्था में उस व्यक्ति को अपना भगड़ा स्वयं निपटाने की आवश्यकता से मुक्त रखा जाता है। यह एक बड़ी सामाजिक सुविधा है। इस से मानो तुम्हारी जगह लड़ने का काम तुम्हारे बड़े भाई करेंगे। परन्तु फिर भी प्रश्न यह रहता है कि क्या बदला लेने की नीति, चाहे वह किसी भी ढङ्ग से काम में लाई जाय, स्वयं कुछ ठीक है? क्या इसका नैतिक प्रभाव अच्छा पड़ता है?

४—दंड सुधारक है ?—इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दण्ड देने में या उसके साथ व्यवहार करने में, मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि अपराधियों का, उनके आचरण का, सुधार हो जाय; वे भविष्य में अपराध न किया करें। यह तभी हो सकता है जब अपराधी के व्यक्तित्व का, उसके स्वभाव आदतों तथा वातावरण आदि का यथेष्ट

ध्यान रखा जाय। प्रत्येक अपराधी की अपने-अपने दण्ड की अलग-अलग समस्या होती है। इसलिये उसे हल करने का दण्ड भी पृथक्-पृथक् होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राण-दण्ड और कई प्रकार के आधुनिक दण्डों का अनौचित्य स्पष्ट है। वास्तव में यह सिद्धान्त तो अपराधियों को दण्ड देने की अपेक्षा उनसे प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव करने का निर्देश करता है।

दण्ड के उपर्युक्त चार सिद्धान्तों में से रक्षात्मक सिद्धान्त का लक्ष्य तो वास्तव में दण्ड नहीं होता। शेष तीन सिद्धान्तों में अपराध निवारक सिद्धान्त निर्दोषों को लक्ष्य में रख कर, प्रतिफल-सूचक सिद्धान्त अपराधी के अपराध को लक्ष्य में रखकर, और सुधार-सिद्धान्त स्वयं अपराधी को लक्ष्य में रखकर व्यवस्था करता है। इनकी आलोचना की जा चुकी है।

प्राकृतिक दंड का सिद्धान्त—कुछ सजनों का मत है

कि अपराधियों को दंड देने में प्रकृति का अनुकरण किया जाय। अगर बच्चे का सिर मेज से टकराता है तो उसके चोट लगती है, अगर वह दुबारा गलती करता है तो पुनः कष्ट उठाता है। क्रमशः वह जान लेता है कि ऐसे कार्य करने का स्वाभाविक परिणाम कष्ट उठाना होता है। यह निश्चित और अटल होता है, इसमें कोई रियायत या पक्षपात नहीं होता, इस की कहीं अपील नहीं हो सकती। संसार में भी बहुधा ऐसा ही अनुभव होता है। सुत्त आदमी अपना रोजगार खो बैठता है, असावधान व्यापारी अपने ग्राहक खो देता है और जल्दबाज सट्टा-फाटका करने वाले अपना द्रव्य लुटा देते हैं। सदैव गलती का दंड मिलता है, दंड परिणाम-कारक होता है, अपराधी को सुधारने वाला होता है। बहुत से नये दंग के स्कूलों में इस पद्धति का यथा-सम्भव अनुकरण किया जाता है। जहाँ तक बन आता है, शिक्षक दंड देने का काम नहीं करता, वह इस बात का प्रयत्न करता है, कि गलती करने वाले को उसका स्वाभाविक परिणाम सहना पड़े। उदाहरणवत् यदि कोई लड़का अपनी चीजें इधर-

उधर बत्तेर देता है तो उन्हें समेट कर रखने का काम भी उसी को करना होता है।

स्थूल दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रकृति ने उचित कार्यों का प्रमत्तता से, और अनुचित कार्यों का दुःख से सम्बन्ध जोड़ रखा है। परन्तु प्राकृतिक दंड परिमाण में प्रायः अपराध के समान नहीं होता। वह सदैव सुधारक भी नहीं होता। कभी-कभी तो दंड मनुष्य को कार्य करने में असमर्थ कर देता है, अथवा उसकी जान ही ले डालता है।

प्राकृतिक परिणाम के सिद्धान्त को व्यवहार में लाने से कई कठिन समस्याएँ सामने आती हैं। मेज में सिर लगाने से बालक को चोट लगती है, परन्तु यदि एक बालक छड़ी हाथ में लेकर दूसरे को मारे तो क्या मारने वाले को प्राकृतिक रूप से ही दण्ड मिल जायगा? एक बालक ने अपनी थाली का खाना गिरा दिया, अब उक्त सिद्धान्त के अनुसार यदि उसे खाने को, न दिया जाय, तो क्या यह दंड बहुत भयङ्कर और हाँ, उससे अधिक न होगा जो इस सिद्धान्त को न माननेवाले डॉट-डपट, या थोड़े बहुत शारीरिक कष्ट के रूप में दिया करते हैं। प्राकृतिक दंड की रीति में नैतिक समस्या हल नहीं होती। भूठ बोलने का क्या परिणाम होता है? अविश्वास और मानभंग। परन्तु यह तभी तो होगा, जब दूसरों को उस भूठ का पता लग जायगा, और, इसका पूर्ण निश्चय नहीं रहता। फलतः यह दण्ड ऐसे अनिवार्य रूप से नहीं मिलता, जैसा प्राकृतिक घटनाओं में सम्भव होता है। संसार में सदैव अच्छे आदमी ही सुख-सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते, और यह तो और भी कम देखने में आएगा कि किसी की समृद्धि उसके सत्कार्यों के अनुपात से हो। बहुधा सख्त मेहनत करनेवाले को उसका यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिलता, जब कि कुछ आदमी अपेक्षाकृत थोड़ा परिश्रम करके कहीं अधिक द्रव्य या मान-प्रतिष्ठा पा जाते हैं। हाँ, सच्चरित्र और परिश्रमी आदमियों को अपने सत्कार्य से सन्तोष हो सकता है; और, पापियों को

सांसारिक दृष्टि से समृद्धशाली होने पर भी मनस्ताप हो सकता है। परन्तु यह भी प्रत्येक दशा में अनिवार्य नहीं है। अस्तु, प्राकृतिक दण्ड-सिद्धान्त साधारणतया उपयोगी होने पर भी, यह समाजों और राज्यों की अपराधियों सम्बन्धी समस्या को हल करने का अचूक साधन नहीं हो सकता।

प्रायश्चित्त का विषय—इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त के विषय में भी विचार कर लेना उपयोगी होगा। प्रायश्चित्त अथवा प्रायः धर्माधिकारियों के हाथ में एक धन-प्राप्ति का साधन मात्र है। भारतवर्ष में सर्व साधारण में यह भावना प्रचलित है कि अमुक पाप करने वाले को अमुक तीर्थ यात्रा करनी चाहिए, इतने ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए या इतना रुपया मंदिर या देवालय में जमा कर देना चाहिये। ईसाई देशों में बहुधा ऐसा हुआ है और अब भी कुछ अंश में हो रहा है कि इतना रुपया गिरजाघर में, पादरी को या पोप को भेंट कर देने से अमुक पाप से मुक्ति हो सकती है। ऐसी मुक्ति प्राप्त करना केवल धनी लोगों के वश की बात है, निर्धनों के लिये तो यह प्रायः उनका और उनके बाल-बच्चों का पेट काटने की बात है। प्रायश्चित्त के इस बिगड़े हुए रूप की बात छोड़कर हम यहाँ उसके ऐसे भाव को लेते हैं। जिसके अन्तर्गत मन की शुद्धि, अपने दुष्कृत्य के लिये हृदय से पाश्चात्ताप, आगे भविष्य में वैसा न करने को दृढ़ प्रतिज्ञा, संयम और इन्द्रिय-दमन सम्बन्धी विविध साधनों का प्रयोग सम्मिलित। इस अर्थ में प्रायश्चित्त अवश्य ही अपराध निवारक है। इससे वे बुराइयाँ भी नहीं होने पातीं जो विविध प्रकार के शारीरिक दण्डों से होती हैं, जिनका वर्णन हमने प्रसंगानुसार किया है। अस्तु, प्रायश्चित्त अपराध-निवारण का बहुत उत्तम साधन है; शर्त यही है कि यह वास्तविक हो, कृत्रिम और दिखावटी न हो।

दंड देने में अपराधी की जाति या वर्ण का विचार—
भिन्न-भिन्न प्रकृति, परिस्थिति, संस्कृति या अवस्था वाले सब अपराधियों को

अनुरूप बताव करना युक्ति-संगत है, और इस प्रकार भारतवर्ष में प्राचीन काल में जो विविध वर्णों के अपराधियों के साथ व्यवहार की भिन्नता रखी गयी, वह उस सीमा तक तो उचित कही जा सकती है, जहाँ तक उसका उद्देश्य भिन्न-भिन्न प्रकृति के व्यक्तियों से पृथक्-पृथक् व्यवहार करना था परन्तु एक वर्ण के सभी आदमियों की प्रकृति सदैव एकसी होना स्वाभाविक नहीं है। अतः वर्ण-भेदमूलक दंड-विधान का, सिद्धान्त या न्याय से, समर्थन नहीं किया जा सकता। हमारे यहां के प्राचीन दण्ड-विधान में—कम से कम जिस रूप में वह हमें इस समय ज्ञात है—प्रायः द्विजों और उनमें भी ब्राह्मणों के साथ बेहद रियायत की गयी, और शूद्रों तथा अनाथों के प्रति बहुत ही कठोरता। प्राचीन योरप में दासों का जीवन उनके मालिकों की इच्छा पर निर्भर था। मध्यकालीन योरप में रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों ने एक दूसरे के प्रति बहुत कम न्याय किया है। इसलामी राज्यों में अन्य जातियों या धर्मावलम्बियों के लिये समानता की मांग करना उपहास-जनक था। स्मरण रहे, हम शास्त्रों की बात नहीं कह रहे हैं, हमारे सामने व्यवहार की बात है।

आज कल सभ्यता बहुत आगे बढ़ी हुई बतायी जाती है; परन्तु अब जाति और धर्म ने वर्ण का रूप ले लिया है। अमरीका आदि देशों में हवशियों के प्रति, और योरपियन जातियों का रंगदार जातियों के आदमियों के प्रति, कैसा न्याय होता है, यह विचारणीय है। अवश्य ही, जब मामला दो काले या पीले व्यक्तियों के बीच में हो, तो प्रायः न्याय हो जाता है, परन्तु सोचना यह है कि जब एक काला या पीला आदमी किसी गौर वर्ण जाति के व्यक्ति के प्रति कुछ अपराध करता है तो क्या उसे वही दण्ड दिया जाता है जो एक गौर वर्ण के व्यक्ति को दिया जाता, अगर वह किसी काले या पीले व्यक्ति के प्रति वैसा ही अपराध करता? सभ्यता और उच्च आदर्शों का दम भरनेवाले गर्भीरता से विचार करें।

दसवां परिच्छेद

दंड-नीति की आलोचना

—:❀:—

मैं दुस्साध्य अपराध-रोग से ग्रस्त हूँ। किसी भी वैद्य हकीम ने आज तक मेरे इस मर्ज का ठीक इलाज नहीं किया। मुझे जहरीली दवाइयाँ पिलायी गयीं, किसी ने प्यार की, एक मात्रा आज तक भी मुझे नहीं दी।

—वियोगी हरि

“सजा के बदले सुधार करना ही हमारे दण्ड-विधान आधार होना चाहिए। दुःख या सजा देकर जो नैतिकता दाखिल की जायगी, वह भूठी नैतिकता होगी, इसलिये जो लोग नीति की मर्यादा निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहते हैं, उन्हें दूसरे साधनों का ही उपयोग करना होगा।”

—लार्ड लिटन

वर्तमान अपराध-चिकित्सा की बात समाप्त करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि यह चिकित्सा-पद्धति अर्थात् दण्ड-नीति कहां तक सफल या विफल रही है, क्या भविष्य में इसका रहना उचित है ?

क्या अपराधियों को दंड दिया जाना चाहिए ?—

प्रायः लोग इस बात पर तर्क-वितर्क किया करते हैं कि अपराधियों को क्या और कितना दण्ड दिया जाय, जो माप-तोल में उनके किये हुए अपराध की मात्रा या गुरुता के अनुरूप हो। वे एक दण्ड की निरर्थकता और दूसरे की उपयोगिता सिद्ध किया करते हैं, अथवा दण्ड की मात्रा

के विषय में अपना विचार उपस्थित किया करते हैं। वे मानो यह पहले ही मान लेते हैं कि अपराधी को दण्ड मिलना आवश्यक है। परन्तु हमारा इस मूल बात में ही मत-भेद है। हम पाठकों से शान्त चित्त से यह विचार करने के लिये अनुरोध करते हैं, कि क्या दण्ड देना वास्तव में आवश्यक और उपयोगी होगा? हम प्रायः रोगियों से सहानुभूति दर्शाया करते हैं, उनकी सेवा-सुश्रुता करते हैं। जो रोगी अपनी इच्छा से, या जान-बूझ कर बीमार नहीं पड़ा है, उसे कोई व्यक्ति दण्ड देने का विचार नहीं करता। फिर, अपराधी को, अपराध-रोग के रोग के रोगी को, दण्ड क्यों दिया जाता है! एक आदमी शारीरिक या मानसिक विकारों के कारण अपराधी बन रहा है तो उस के विकारों को सुयोग्य चिकित्सकों द्वारा दूर न करके, उसे दण्ड देना कैसे युक्ति-संगत है? इसी प्रकार राजनैतिक, आर्थिक, या सामाजिक परिस्थिति आदि के कारण होनेवाले अपराध, उक्त कारण का निवारण हुए बिना, दण्ड मात्र के उपयोग से कैसे दूर हो सकते हैं?

अच्छे-अच्छे विचारवान भी दण्ड देने का समर्थन क्यों करते हैं? बात यह है, उन्होंने कभी इस विषय में पर्याप्त विचार ही नहीं किया। वे इस विषय में अन्ध-विश्वासी हैं, वे लोकचर या रूढ़ि से अपना पिंड छुटा कर, स्वतंत्र चिन्तन करने का अवसर नहीं पा सके हैं। यह तो आसानी से समझ में आजाना चाहिए कि अपराधी की समस्या अधिकांश में सामाजिक और चिकित्सा सम्बन्धी समस्या है, इस का हल शरीर-विज्ञान या मनोविज्ञान द्वारा होना चाहिए। इस समस्या का कानून से कुछ विशेष दशाओं में ही, और, थोड़ा-सा ही सम्बन्ध है।

पुरातन-मत-वादियों का बोल बाला—दुख का विषय है, अभी उक्त धारणा रखने वाले व्यक्ति बहुत ही अल्प संख्यक हैं, वे इन्हीं गिने ही कहे जा सकते हैं। अन्य विषयों में बहुत कुछ जाग्रति हो जाने, और नये विचारों का प्रवाह आ जाने पर भी अपराधियों के विषय में सर्व

साधारण के क्या, अच्छे-अच्छे विद्वानों और समझदारों के विचार भी पुराने ज़माने के, अनुदार, और तर्क-शून्य हैं। अनेक आदमियों का दृढ़ विश्वास है कि अपराधों को रोकने का एक-मात्र उपाय कानून और दण्ड विधान को और अधिक कठोर बना देना है। उनके मत से, जिन आदमियों पर अपराध करने की आशंका हो, उन्हें गिरफ्तार करने, दोषी ठहराने और दण्ड देने के लिये अधिक उग्र विधियों का प्रयोग होना चाहिए।

दण्ड-नीति के दोष—प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि दण्ड जितना कठोर होगा, अपराध उतने ही अधिक संख्या में, एवं दुस्साहस-पूर्ण होंगे। जो आदमी एक बार कोई दण्ड भुगत लेता है, उसे क्रमशः उसको सहन करने की आदत पड़ जाती है, वह भविष्य में उससे भी अधिक कठोर दण्ड को सहन करने के योग्य बन जाता है। दण्ड की भयानकता उसके लिये क्रमशः कम हो जाती है। आप दण्ड को कठोर करते जाइये; अपराधी उसे सहन करने की क्षमता बढ़ाता जायगा। इस प्रतिद्वन्द्विता या मुकाबिले की प्रत्येक मंजिल पर आपकी ही पराजय होती रहेगी, अन्ततः आप स्वीकार करेंगे कि अब हम अपराधी के लिये और कोई दण्ड निश्चय करने में असमर्थ हैं; बेहतर है कि इसको आजन्म काले पानी या देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाय, अथवा इसके प्राण-हरण कर लिये जाय, और सदा के लिये हमारा इससे पिन्ड छूटे। आप चाहे जो कहा करें, यह आपकी निराशा और पराजय की पराकाष्ठा की असंदिग्ध घोषणा है।

दण्ड-विधान अपने उद्देश्य में विफल तो रहा ही है, इसने अपराधों और अपराधियों की संख्या-वृद्धि में भी सहायता दी है। इसने ऐसे अनेक आदमियों को अपराधी ठहरा कर भयंकर कष्ट दिया, जिन्होंने भूल या परिस्थिति वश कोई गलती कर दी थी, परन्तु जिनका हृदय, स्वभाव और मनोवृत्ति वास्तव में दूषित नहीं थी। इसने उक्त व्यक्तियों को सुयोग्य नागरिक बनाने के बजाय समाज-विद्रोही और घोर अपराधी बना दिया

अस्तु कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर, जिनमें मनोविज्ञान अनुमति दे, साधारणतया अपराधियों को दण्ड दिया जाना व्यर्थ और हानिकर होता है।

अपराध-शास्त्र का आदेश—दण्ड-विधान अवैज्ञानिक है।

इसका लक्ष्य अपराधी को उसके किये अपराध के अनुसार दण्ड देना है। आधुनिक अपराध-शास्त्र-वेत्ता का, इसके विपरीत, यह मत है कि अपराधी से उस का अपराध स्वीकार कराना, या उसे अपराधी करार देना वास्तव में महत्वपूर्ण बात नहीं है। मुख्य विचार यह होना चाहिए कि अपराधी का सुधार कैसे हो, वह सुयोग्य नागरिक किस प्रकार बनाया जाय, उसे कैसे व्यवहार के पश्चात् मुक्त किया जाना चाहिये। इस विचारधारा के अनुसार अपराधी को दण्ड देने या उस से बदला लेने की कोई भावना ही नहीं रहती। इस का लक्ष्य होता है, अपराधियों की चिकित्सा, और इस में हमारी दृष्टि भविष्य की ओर रहनी चाहिए। जो अपराध हो गया, उसका विचार करते रहना समाज या राज्य के हित के लिये इतने महत्व का विषय नहीं, जितने महत्व की बात यह है कि अब आगे इस प्रकार का कार्य न हो, समाज को उस से रक्षा हो, तथा 'अपराधी' व्यक्ति का भावी जीवन सुधरे।

एक शिक्षाप्रद घटना—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित घटना विचारणीय है। किसी स्कूल में एक दिन कोई विद्यार्थी एक विशेष प्रकार की सफेद टोपी पहन कर गया। मास्टर साहब ने इसे भयंकर और अक्षम्य अपराध समझा। उनके क्रोध का पारा इस घटना से अपने ठिकाने पर न रहा। वे उस विद्यार्थी को कुछ बुरा-भला कह कर ही नहीं रह गये, उन्होंने दण्ड देने के अपने अधिकार का भरपूर उपयोग किया। अच्छा; इस का परिणाम क्या हुआ? अगले दिन न केवल वह विद्यार्थी, बल्कि उस क्लास के समस्त विद्यार्थी वैसी ही टोपी पहन कर बड़ी शान के साथ स्कूल में गये। अब मास्टर साहब के पास लज्जित होने के सिवाय

और क्या चारा था ! अगर मास्टर साहब तनिक यह सोचने का कष्ट उठाते कि वास्तव में वैसी टोपी पहनना कोई अपराध नहीं है—और यदि इसे अपराध ही माना जाय तो इस का उत्तरदायित्व ऐसे व्यक्तियों और परिस्थितियों पर है, जिन पर उस विद्यार्थी का कुछ नियंत्रण नहीं है तो वे दण्ड देने की भयंकर भूल न करते। पुनः यदि मास्टर साहब इस घटना पर इतना अधिक ध्यान न देकर इसे आयी-गयी मान लेते, तो ही कौन सा बिगाड़ हो जाता ! सम्भव था, धीरे-धीरे दो चार विद्यार्थी उस का अनुकरण करते। परन्तु मानों मास्टर साहब को विद्यार्थियों की यह मंद गति की प्रगति अच्छी न लगी, उन्होंने अपने व्यवहार से सब विद्यार्थियों में एक-दम परिवर्तन कर दिया। अथवा, हम मास्टर साहब को ही क्यों दोष दें, सम्भव है, इस विषय में सूत्र-संचालन का कार्य दूसरी ही शक्तियों ने किया हो। अस्तु, हमारा मतलब दण्ड-विधान की निरर्थकता दर्शाने का है। क्या समाज और राज्य के उत्तरदायी व्यक्ति इस विषय में समुचित विचार करेंगे ?

प्राचीन काल में कठोर दंड की व्यवस्था क्यों थी ?—

प्राचीन काल में दण्ड की व्यवस्था थी, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। एक जिज्ञासू यह प्रश्न कर सकता है कि ऐसी कठोर दण्ड-प्रणाली प्राचीन काल में क्यों प्रचलित थी, और क्योंकि उस समय इसके होने से कहीं-कहीं समाज में अपराध कम होने का भी उल्लेख मिलता है, इसलिये इसका विरोध करना कैसे उचित है ? इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखने की हैं। प्रथम तो यह कि मनुष्यसमाज प्रारम्भिक अवस्था में बहुत सरल स्वभाव वाला होता है, उसका जीवन सभ्य लोगों की दृष्टि में चाहे अच्छा न जचता हो, वह हृदय में निष्पाप होता है उसके लिये कठोर दण्ड बहुत प्रभावकारी हो सकता है। पुनः सम्भव है कि उस समय सर्व साधारण के हृदयों में सूक्ष्म भावनाएँ ठीक तरह न उतरती हों, इसलिये भी उनके वास्ते कठोर और स्थूल उपायों का अवलम्बन किया जाता हो।

विशेष वक्तव्य—हमें यह विचार करना चाहिए कि वर्तमान काल में प्राचीन परिस्थिति नहीं है, और जो उपाय उस समय की दशा में काम में लाये गये और सम्भवतः सफल भी हुए, उन का इस बदली हुई परिस्थिति में उपयोग हितकर नहीं हो सकता। उदाहरणवत् प्राचीन काल में, अनेक देशों में ऐसी व्यवस्था थी, और, अब भी साधारण गंवार आदमियों में ऐसा पाया जाता है कि वे रोगियों का इलाज चिकित्सकों द्वारा न करा कर उन के वास्ते जन्त्र मंत्र, टोना और जादू करने वालों की खोज करते हैं। कहीं-कहीं तो रोग-निवारण के लिये पशु-पक्षियों की बलि दी जाती है; और जंगली आदमी तो मनुष्यों तक की बलि देकर स्वास्थ्य-लाभ करने में विश्वास करते हैं। भारतवर्ष में बच्चों के रोगी होने की दशा में 'माता' की पूजा की जाती है; अनेक माता-पिता तो 'माता' की पूजा को खास-खास रोगों के लिये राम-बाण समझते हैं। कुछ देशों में पहले पागल अपराधियों पर भी बा-कायदा मुकदमे चलते थे, और उन्हें तत्कालीन कानून के अनुसार विविध दण्ड दिये जाते थे। अब आदमी प्रायः यह समझते हैं कि रोगों के इलाज के लिये जन्त्र मंत्रादि न करके, सुविज्ञ चिकित्सकों के आदेशानुसार व्यवस्था करनी चाहिए। अब यह भी विचार किया जाने लगा है कि पागलपन एक रहस्यमय चिकित्सासम्बन्धी समस्या है, जिसका इस विषय के विशेषज्ञों द्वारा इलाज हो सकता है। अस्तु, अन्य रोगों की भाँति, अपराध-रोग के चिकित्सा और चिकित्सा-शैली के सम्बन्ध में भी हमें अपना दृष्टि-कोण बदल देना चाहिये।

दूसरा खंड

अपराधों का निदान



म्यारहवाँ परिच्छेद

अपराधों की उत्पत्ति



“हम अपराध रोग के बाहरी लक्षणों को दबाने में जितना जोर लगाते हैं, उसका सौवां हिस्सा भी यदि हम उसके उद्गम की ओर ध्यान दें तो अधिकांश ‘अपराधी’ अपराधी न रहें, सुयोग्य नागरिक बन जायें।”

निदान की आवश्यकता—अपराध-रूपी रोगों का निवारण किस प्रकार हो सकता है, तथा उनकी कौनसी चिकित्सा तर्कयुक्त, वैज्ञानिक, या बुद्धि-संगत होगी, किस में अधिक से अधिक सफलता मिलने की आशा है, इसका विचार करने से पूर्व अपराध-रोग का निदान कर लेना आवश्यक है। अर्थात् यह जान लेना चाहिए कि यह रोग होता क्यों है, इसके क्या-क्या कारण हुआ करते हैं। जो व्यक्ति किसी रोगी के फोड़े पर, बिना इस बात का विचार किये कि वह फोड़ा क्यों हुआ है और रोगी के शरीर में विकार क्या है, पट्टी बांध देता है, वह योग्य चिकित्सक नहीं कहा

जा सकता। उसकी 'चिकित्सा' से रोगी को प्रायः लाभ होने की सम्भावना नहीं, उल्टे हानि की आशंका है। और, यदि रोगी के एक फोड़े में आराम हो गया, किन्तु उसके दो-तीन फोड़े और निकल आये तो ऐसी चिकित्सा के होने से उसका न होना ही अच्छा है। इस बात की सच्चाई को सर्व-साधारण भली-भांति समझ सकते हैं। परन्तु अपराध-चिकित्सा में इसे कुशल और अनुभवी प्रबन्धक और विचारक भी प्रायः भूल जाते हैं।

प्रत्येक अपराधी के लिये एक-से-एक अधिक कठोर दंड अच्छा बतलाया जाता है। उससे अपराधी का सुधार होता है या नहीं, उससे समाज की रक्षा में सहायता मिलती है या नहीं, इसका कुछ विचार नहीं किया जाता। एक अपराध के लिये सजा पा जाने पर अपराधी पुनः वैसा ही अथवा उससे भी बड़ा अपराध करता है और फिर कठोरतर सजा पाता है। इस प्रकार कोई-कोई व्यक्ति तीन-तीन चार-चार बार दण्डित होता है। इससे स्पष्ट है कि हमारी निदान प्रणाली में दोष है, और अपराधों के निवारण या चिकित्सा के लिये आवश्यक है कि उनका सम्यक् निदान किया जाय। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि अपराधों का वास्तविक और ब्यौरेवार निदान होना बहुत कठिन है, तथापि कुछ मोटी-मोटी बातों का तो भली-भांति विचार किया ही जाना चाहिए।

अपराधों की उत्पत्ति सम्बन्धी विविध विचार-धाराएँ—

अपराधों के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों और विशेषज्ञों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं; किसी ने एक कारण को प्रधानता दी है, किसी ने दूसरे कारण को। किसी ने अपराधों का कारण आनुवंशिक स्थिति बताते हुए कहा है कि अपराध करने की प्रवृत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त होती है, और अपराधी अपने जन्म से ही अपराधी होते हैं। कुछ आदमी अपने विकास में पिछड़े हुए हैं, इनका साधारण मनुष्यों से (जो इनसे अधिक विकसित हैं) मेल नहीं बैठता; इसलिए ये अपराध-मूलक कार्य करते हैं।

कुछ का मत है कि अपराधों का बीज मानसिक असंतुलन में है। मनुष्य में स्थायी या क्षणिक मानसिक गड़बड़ होने से वह अपराध करता है। किसी का कहना है कि अन्य लोगों की बातें देख-सुनकर आदमी में अच्छे कार्यों की तरह बुरे कार्य भी करने की आदत पड़ जाती है।

एक विचार-धारा यह है कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति के कारण अथवा, किसी प्रकार के (आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक आदि) दबाव के कारण आदमी अपराध करने को विवश हो जाते हैं। प्रायः देखने में आता है कि जब भाग या पानी के स्वाभाविक प्रवाह को रोक दिया जाता है तो वह एक सीमा तक तो रुका रहता है, फिर किसी ओर से दबाव पड़ने की दशा में जहां कहीं से भी उसे रास्ता मिल सकता है, वह तोड़-फोड़ करके फूट निकलता है। ऐसे ही जब कोई पशु चारों ओर से घिर जाता है, तो वह कल्पनातीत साहस करके निकल भागने के लिए उद्योग करता है। यही हाल मनुष्य का है। आदमी एक सीमा तक भूख-प्यास सह सकता है, समाज और धर्म के आदेशों को मान लेता है, राजनैतिक ज्यादतियों को बर्दाश्त करता है। परन्तु, आखिर कब तक ? एक सीमा से आगे उसे यह सहन नहीं होता। फिर वह जो कुछ उचित समझेगा, करेगा। महात्माओं या धर्माचार्यों के वाक्य, वे चाहे जितने सुन्दर और मनोहर क्यों न हों, उसे रोक न सकेंगे; समाज-नीति या दण्ड-नीति का भी उस पर कुछ नियन्त्रण न रह सकेगा; वह लोकलज्जा के भय को तिलांजलि दे बैठता है, और जब कि वह अपनी जान देने को स्वयं सहर्ष तैयार होता है तो उसे कोई दण्ड, वह जेल का हो या कालेपानी का या फांसी का, क्या भयभीत कर सकता है !

अपराधों के मुख्य कारण—इस प्रकार मनुष्य जो अपराध (या अन्य भले-बुरे कार्य) करते हैं, प्रायः उनके मुख्य कारण निम्न-लिखित बतलाए जाते हैं :—

(१) आनुवंशिक स्थिति।

- (२) मानसिक स्थिति ।
- (३) शारीरिक स्थिति ।
- (४) प्राकृतिक परिस्थिति ।
- (५) आर्थिक परिस्थिति ।
- (६) सामाजिक परिस्थिति ।
- (७) राजनैतिक परिस्थिति ।
- (८) 'धर्म' अर्थात् मत ।
- (९) 'सम्भ्यता' ।

इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में व्योरेवार विचार अगले परिच्छेदों में किया जायगा । यहां यह बता देना आवश्यक है कि इनमें से पहले कारण (आनुवंशिक स्थिति) को अब कुछ महत्व नहीं दिया जाता; दूसरा कारण मानसिक स्थिति निकट वर्ती या तात्कालिक अवश्य है, तथापि यह गौण या दूसरे दर्जे का है । वास्तविक और मुख्य कारण परिस्थितियाँ या वातावरण हैं; खास कर सामाजिक, आर्थिक परिस्थिति का अपराधों की सृष्टि में बड़ा हाथ रहता है । हाँ अनेक दशाओं में यह पीछे छुपी रहती है, स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देती । अपराधों के मानसिक पहलू पर ध्यान देने और लोगों की मानसिक चिकित्सा करने का क्या यथेष्ट महत्व है, तथापि जब तक परिस्थितियों में समुचित सुधार नहीं किया जायगा, तब तक अपराध-समस्या कुछ विशेष परिमाण में हल न होगी ।

परिस्थिति और दंड—दण्ड-प्रणाली में विश्वास करनेवाले प्रायः उक्त बातों के प्रभाव को भूल जाते हैं, या उसका पूर्णतः अनुमान करने में गलती करते हैं । जो आदमी परिस्थिति से प्रेरित होकर अपराध करने लगता है, वह इस बात का विचार करके नहीं रुकता कि सैकड़ों आदमी ऐसे अपराध के कारण गिरफ्तार हुए और सजा पा चुके हैं । सम्भवतः वह अपने मन में सोचता है कि यद्यपि दूसरे पकड़े गये हैं, मैं बच जाऊंगा; उन्होंने कुछ असावधानी से काम किया, मैं खूब सावधान रहूँगा ।

वह अपने दुस्साहस की जोखिम उठाने को तैयार रहता है। एक बार एक अपराधी से पूछा गया, क्यों जी, दण्ड के भय से तुम अपराध करने से क्यों नहीं रुके ? उसने जवाब दिया कि अगर आदमी इस तरह जोखिम उठाने से बचा करें तो उनका जीवन ही दूभर हो जाय।

इस तरह के विचार होते हैं, जो मनुष्य, परिस्थिति से बाध्य होकर किया करते हैं। ऐसे आदमियों को कोई दण्ड-विधान अपराध करने से कैसे रोक सकता है ? जिन आदमियों को आर्थिक परिस्थिति से, भूख-प्यास के कष्ट में व्याकुल रहना पड़ता है, वे धीरे-धीरे अधिक से अधिक दण्ड की कल्पना करके उससे परिचित हो जाते हैं, और वे हर समय की मुसीबत की अपेक्षा, प्राण-दण्ड से क्षण भर में होने वाली मृत्यु को अधिक अच्छा समझने लगते हैं। ऐसी ही बात अन्य प्रकार की परिस्थितियों के सम्बन्ध में है।

क्या मनुष्य स्वतंत्र नहीं है ?—यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या मनुष्य परिस्थितियों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकता ? क्या वह प्रतिकूलताओं का सामना करके, अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता ? बात कुछ अंश में ठीक है। जिस प्रकार दूषित जलवायु में रह कर, अथवा अपर्याप्त या अशुद्ध भोजन करते हुए भी कुछ आदमी रोगी नहीं होते, इसी प्रकार कुछ आदमी प्रतिकूल आर्थिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों में अपना मानसिक तौल बनाये रखते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ सज्जन ऐसे होते हैं कि भूखे रहने की दशा में, अपने शरीर का, थोड़ा-थोड़ा करके नष्ट होना सहर्ष स्वीकार करेंगे, परन्तु चोरी या रिश्वत आदि अनुचित उपायों से उदर-पूर्ति कदापि न करेंगे, एवं चहुँ ओर लोभ, विलासिता और व्यभिचार का वातावरण होते हुए भी पूर्ण संयमी, निस्वार्थी और आत्म-त्यागी होने का परिचय देंगे। निस्सन्देह ऐसे सज्जन धन्य हैं, ये राज्य और समाज की शोभा हैं। परन्तु सर्व-साधारण में ये औसतन फी-चैकड़ा कितने होते हैं ? और, यदि ये थोड़े से महानुभाव कभी-कभी परिस्थितियों

का सफलता-पूर्वक सामना कर सकते हैं, तो क्या यह कहना तर्क-संगत होगा कि परिस्थितियों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता ?

अपराधों में नियम-बद्धता—समाज-शास्त्र के अन्य कई-एक अंगों की भांति, अपराध-शास्त्र भी अभी पूर्णता को नहीं पहुँचा है, इस के नियमों के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ विचार और अनुसंधान होना शेष है। अन्यान्य बातों में यह भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है कि क्या अपराधों के विषय में कुछ निश्चित नियम निर्धारित किये जा सकते हैं। कुछ लेखक तो इस विषय पर अपनी असंदिग्ध स्वीकृति देते हैं। उदाहरणार्थ सुप्रसिद्ध अंक-शास्त्री महाशय क्वेटलेट का कथन है—‘अपराधों से इतनी नियम-बद्धता पायी जाती है, कि कुछ कहा नहीं जा सकता। एक बार जो अपराध जितनी संख्या में होते हैं, दूसरी बार भी अपराध उतनी ही संख्या में होते हैं। ऐसे अपराध जो पारस्परिक कलह से उत्पन्न होते हैं, उन में यही बात पायी जाती है। खूनों की संख्या प्रायः प्रति वर्ष एक-सदृश ही रहती है। विचित्रता यह है कि जिस साधन से प्रतिवर्ष खून किया जाता है, उस साधन की संख्या में भी अन्तर नहीं पड़ता। इस विषय में जितनी अधिक खोज की गयी, उतना ही अधिक रहस्य मालूम होता गया। आत्मघात के अन्दर भी कोई नियम काम करता प्रतीत होता है, क्योंकि प्रति वर्ष लगभग एक समान संख्या ही आत्मघात करती है। इस से मालूम होता है कि विशेष प्रकार की सामाजिक अवस्था में आत्मघात की संख्या नियत रहती है। यदि सामाजिक अवस्था में कई वर्ष तक कुछ भी अन्तर न आए, तो नियत संख्या के पुरुष अवश्यमेव प्रति वर्ष आत्मघात कर लिया करेंगे। उन को इस कार्य से कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।’ ❀

आवश्यकता है कि भिन्न-भिन्न देशों की विविध प्रकार के अपराधों की, बहुत से वर्षों की लगातार तुलनात्मक संख्याओं का अध्ययन किया

❀ ‘सभ्यता का इतिहास’—श्री प्राणनाथ विद्यालंकार।

जाय, और साथ ही यह विचार रखा जाय कि सामाजिक स्थिति तथा अन्य विशेष कारणों का उन पर क्या प्रभाव पड़ा, तभी इस बात की यथेष्ट जांच की जा सकती है कि उपर्युक्त निष्कर्ष कहां तक ठीक है। हमारे सामने उपर्युक्त प्रकार की यथेष्ट सामग्री न होने से हम ऐसे कथन की समुचित आलोचना करने में असमर्थ हैं। इस विषय के बिज्ञानुओं को इस बात की गवेषणा तथा परीक्षा करके देखनी चाहिए।

बारहवाँ परिच्छेद आनुवंशिक स्थिति

—:ॐ:—

कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह कौमी आधार पर चोर, दुराचारी अथवा जरायम पेशा नहीं हो सकता।

—सत्यदेव बिद्याभंकार

अब से कुछ समय पूर्व तक अपराध-शास्त्र में प्रायः अपराधों के सम्बन्ध में ही, विचार किया गया, अपराधियों की दृष्टि से इस विषय का विवेचन नहीं हुआ। पुराने दंड-विधान में पाश्चात्य देशों में, कुछ सुधार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। आरम्भ में सुधारकों का लक्ष्य यही रहा कि अपराधियों को दंड देने के लिये सुनिश्चित सिद्धान्त रहें, और न्यायाधीश उन अभिगों को मनमाने दंड न दिया करें। इन सुधारकों ने यह मान रखा था कि कुछ अपराधों को छोड़ कर सब अपराधियों में

बुद्धि और भावनाएं साधारण व्यक्तियों की भांति होती हैं; और वे जो अपराध करते हैं, उसे जान-बूझ कर करते हैं। इस प्रकार मुख्य विचार अपराध-विषयक ही रहा। पीछे इसमें क्रमशः परिवर्तन हुआ, और अपराधियों की स्थिति पर अधिकाधिक विचार किया जाने लगा, तथा इसे अधिक महत्व भी दिया जाने लगा।

जन्मजात अपराधी, लोम्ब्रोसो का सिद्धान्त—

आदमी बहुधा किसी व्यक्ति के चेहरे को देख कर यह अनुमान किया करते हैं कि वह कहां तक सज्जन या दुर्जन होगा। यद्यपि इसमें अक्सर धोका भी होता है, तथापि सर्वसाधारण में चेहरे और अपराध शीलता का सम्बन्ध होने की धारणा रहती ही है। सी. लोम्ब्रोसो नाम के चिकित्सा-शास्त्री और मानसिक रोगों के विशेषज्ञ ने उपर्युक्त धारणा को एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का रूप देने का प्रयत्न किया। आपने पागलखाने के डाक्टर की हैसियत से पागलों के विषय में बहुत अनुसंधान किया और कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। आपका मत था कि अपराधियों में खासी संख्या (लगभग एक-तिहाई) आनुवंशिक अपराधियों की होती है। इस का यह आशय नहीं कि जो व्यक्ति जन्म से अपराधी हैं, उसके माता-पिता अपराधी रहें होंगे, अथवा उसकी संतान भी अवश्य अपराध-प्रवृत्ति वाली होगी। इसका सम्बन्ध कई पीढ़ियों के अन्तर से हो सकता है। जन्म-जात अपराधियों को शारीरिक और मानसिक गठन प्रारम्भ से ही साधारण व्यक्तियों से बहुत भिन्न होता है। श्री लोम्ब्रोसो ने सैकड़ों बड़े-बड़े अपराधियों के चरित्र और चेहरों का सूक्ष्म अध्ययन किया और उनके एक-एक अंग को ठीक-ठीक माप कर, और उनकी साधारण व्यक्तियों के अंगों के माप से तुलना करके बतलाया कि जन्म-जात अपराधियों के सिर, आंख, कान, मुंह, नाक, दांत, ठोड़ी, बाल, पेडू (उदर का निम्न भाग) और कन्धों की बनावट में कुछ भेद होता है, तथा उनकी शारीरिक क्रियाओं में भी कुछ विलक्षणता होती है; उदाहरणवत् उनकी स्पर्श शक्ति

कम होना, अर्थात् अघात होने पर त्वचा में दर्द कम मालूम होना, देखने, सुनने, सूंघने और चखने की शक्ति तीक्ष्ण होना, शरीर में बल तथा फुर्तीलापन होना आदि। इस प्रकार ये व्यक्ति प्राचीन जंगली या असभ्य आदिमियों से मिलते-जुलते हैं। इनकी आदतें या इच्छाएं भी कुछ ऐसी ही होती हैं, जैसे शरीर को गोदना, सुस्ती में पड़े रहना, अपने धन्धे को मन लगाकर न करना, उसे बार-बार बदलते रहना, नशा और ऊधम करना, कुछ न कुछ बुराई करने में आनन्दित होना, न केवल किसी प्राणी की हत्या करना, वरन् उसकी लाश को चीरना फाड़ना और उसके रक्त को पीना।

जन्म-जात अपराधी के लक्षण पुरातन असभ्य आदिमियों से ही नहीं मिलते, वरन् मांसाहारी पशुओं या निम्न श्रेणी के प्राणियों से भी मिलते हैं। उनके जबड़े बड़े होते हैं, दांत कुत्ते के दांतों की तरह काटने वाले और तेज होते हैं। उनकी भुजाएं बन्दरों की भुजाओं की तरह लम्बी होती हैं। वे उन से चलने के सिवाय चढ़ने का भी काम लेते हैं। दाढ़ी के बाल कम होते हैं, यद्यपि शरीर के अन्य भागों में वे खूब होते हैं। उन के पावों में पकड़ने और थामने की शक्ति होती है। हथेली में रेखाएं कम रहती हैं। मुंह में गाल की जगह थैलियां सी होती हैं, नाक चपटी, और खोपड़ी अर्थात् सिर की हड्डी, 'एप' (एक प्रकार के बन्दर) की खोपड़ी की तरह नोकदार होती है। आँख की जगह का गड्ढा शिकारी पक्षियों की भांति बड़ा होता है। चेहरे का, नीचे का हिस्सा तथा जबड़ा बड़ा हुआ होता है, जैसा कि हबशियों या जानवरों का होता है। दांत संख्या में आधक और कुछ दशाओं में सांपों के दांतों की तरह दो पंक्तियों में होते हैं।

जन्म-जात अपराधी, स्त्रियों में कम होते हैं परन्तु जो स्त्रियां जन्म-जात अपराधिनी होती हैं, वे उस प्रकार के मनुष्य-अपराधियों की अपेक्षा बहुत भयंकर होती हैं। उन के शारीरिक लक्षण आदि उसी तरह के होते हैं, जैसे मनुष्यों के ऊपर बताए गए हैं।

बहुधा उनको नसों सम्बन्धी ऐसी बीमारी होती है, जिससे उनको समय-समय पर आकस्मिक अचेतनता का दौरा हो जाता है। उन में प्राकृतिक प्रेम की भावना कम होती है, वे अपनी सन्तान के प्रति तो प्रायः उदासीन रहते हैं। इसके विपरीत, वे अपरिचित व्यक्तियों या पशुओं से बहुत स्नेह प्रकट करते हैं। उन में अहंकार, आडम्बर, चंचलता, बदला लेना, लम्पटपन आदि का भाव विशेष रूप से होता है, तथा बुद्धिमानी और दूरदर्शिता की कमी रहती है। उन्हें अच्छे-बुरे की प्रायः पहचान नहीं होती। वे हर किसी आदमी को लूटना मारना अपना अधिकार समझते हैं, और जो कोई उनके इस कार्य में बाधक होता है, वह उनके विचार से अनुचित करता है। उन्हें अपने किये का पश्चात्ताप नहीं होता। उनमें दगाबाजी या धोखेबाजी की प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है, वे प्रलोभन में पड़कर बहुधा अपने साथियों का रहस्य उद्घाटित कर देते हैं।

इन बातों में से एक-एक दो-दो तो बहुत से साधारण अपराधियों में भी होती हैं। परन्तु किसी में एक साथ बहुत सी बातें कम ही मिलती हैं। इसके विपरीत, जन्मजात अपराधियों में से किसी विरले में ही इनका अभाव होता है; अधिकांश में ये बातें सामूहिक रूप में मिलती हैं। इस प्रकार मनुष्यों में उक्त लक्षणों से जन्मजात अपराधियों की एक पृथक् ही श्रेणी हो जाती है। हाँ, अपराध करने की प्रवृत्ति आनुवंशिक होती है।

लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त से बड़ी-बड़ी आशाएँ—लोम्ब्रोसो के जन्मजात अपराधियों सम्बन्धी सिद्धान्त से लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ होने लगीं। वे सोचने लगे कि अब तो मनुष्य-जाति की अपराध-समस्या हल होने का रास्ता खुल जायगा। प्रत्येक राज्य को केवल लोगों के चेहरों की जाँच करके ऐसे व्यक्तियों को समाज से अलग कर देने का काम रहेगा, जो जन्मजात अपराधी मालूम हों। राज्यों को जजों, अदालतों और जेलखानों आदि की कोई जरूरत न रहेगी, इनमें

होने वाले भारी व्यय से मुक्ति मिल जायगी। नागरिक जीवन सहज ही बहुत शान्त और सुव्यवस्थित हो जायगा।

सिद्धान्त का खंडन—इन आशाओं के पूरी होने में एक बात थी—वह यह कि लोम्ब्रोसो का सिद्धान्त, जांच की कसौटी पर, सही उतर जाय। अफसोस ! यह बात पूरी नहीं हुई। धीरे-धीरे इसके विरुद्ध प्रमाण संग्रह होते रहे। आफत तो तब आई, जब जेनेवा के विश्व-विद्यालय में एकत्रित अन्तर्राष्ट्रीय अपराध-विज्ञान-कांग्रेस की भरी सभा में एक व्यक्ति ने अपराध-विज्ञान के इन बुजुर्गों के छपे हुए फोटों के देरों को दिखा-दिखा कर यह साबित कर दिया कि अधिकांश क्षेत्र में इनके चेहरों में वे सभी लक्षण मौजूद हैं, जो चोर, उठाईगीर, गटकटे, डाकू तथा कातिलों की विशेषता बतलाई जाती है। बुजुर्ग लोग एक-दूसरे के मुंह ताकते जाते थे और हैरान होते जाते थे कि अरे यह क्या बला नाजिल हो रही है। किन्तु सत्य को कौन रोक सकता था ? समझना चाहिए कि लोम्ब्रोसो का सिद्धान्त यहीं दफन हो गया। ❀

बात यह है कि इस प्रकार का सिद्धान्त स्थिर करने के लिए यही आवश्यक नहीं कि सैकड़ों आदमियों की सूक्ष्म जांच की जाय, वरन् यह भी जरूरी है कि भिन्न-भिन्न अन्वेषक विविध परिस्थितियों में काम करें; एक ही देश में नहीं, विविध देशों में तथा बहुत समय तक, कई पीढ़ियों तक गम्भीरता-पूर्वक अन्वेषण हो। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में जल्दबाजी न की जाय।

खोज का महत्व—लोम्ब्रोसो का सिद्धान्त गलत साबित होने पर भी उसकी खोज का बहुत महत्व है। उसने अपराधी को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने की कोशिश की इससे लोगों का ध्यान अपराधी की परिस्थितियों के अध्ययन की ओर गया। समाजशास्त्री यह विचार करने लगे कि कोई

❀ 'अपराध' ले०— श्री मन्मथनाथ गुप्त

व्यक्ति अपराध क्यों करता है, सामाजिक, आर्थिक वातावरण आदि का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है, समाज-व्यवस्था में क्या-क्या परिवर्तन होने से अपराधों में कमी होगी, तथा अपराधी पर भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार का क्या परिणाम होता है ।

अपराध और उत्तराधिकार सिद्धान्त—यह अध्ययन किया गया है कि माता-पिता के अपराधी होने का, उनकी सन्तान के अपराधी होने पर कहां तक प्रभाव पड़ता है । ‘जैसा बाप, वैसा बेटा’ यह एक पुरानी कहावत है । पिछली सदी में इस कथन को वैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न किया गया । श्री गाल्ट ने बतलाया कि बच्चे अपनी चारित्रिक विशेषताओं में से आधी अपने पिता-माता से, एक-चौथाई उनके पिता-माता से, तथा आठवां हिस्सा उनके भी पिता माता से प्राप्त करते हैं ।

पिता-माता के गुण-दोष अक्सर संतान में जाहिर होते हैं, यह ठीक है । परन्तु जैसा कि श्री मन्मथनाथ गुप्त ने ‘अपराध’ पुस्तक में लिखा है, प्रश्न तो यह है कि क्या इसका कारण यह है कि वह उनके रजो-वीर्य से पैदा होती है या इस लिए कि जब से वह पैदा होती है तब से मा-बाप का ही उदाहरण उसके सामने रहता है, अर्थात्, वह उनके ही वातावरण से प्रभावित होता है । यदि यह मान लिया जाय कि संतान जन्म से ही एक बड़ी सीमा तक माता-पिता का स्वभाव पाती है तो भी यह प्रश्न उठता है कि मा-बाप का स्वभाव एक विशेष प्रकार का क्यों हुआ; किसी दूसरे प्रकार का क्यों नहीं हुआ । इस तरह हम सामाजिक-आर्थिक कारणों में पहुँच जाते हैं । इसका खुलासा विचार आगे किया जायगा । यहाँ हम जरायम-पेशा कही जाने वाली जातियों के विषय में विचार करें ।

‘जरायम-पेशा’-जातियाँ—जिस प्रकार किसी आदमी का केवल वंश-परम्परा के कारण अपराधी होना अनिवार्य नहीं है, उसी प्रकार

किसी जाति को भी अपराधी या जरायमपेशा ठहराना अनुचित है। यह हो सकता है कि किसी जाति के आदमी किसी खास प्रदेश तथा खास समय में अपेक्षाकृत अधिक अपराधी पाए जायें, पर उससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि हर जाति के आदमी प्रत्येक देश-काल में अपराधी होंगे। परन्तु अनेक सरकारें बड़ी विवेकहीनता से काम करती हैं। भारत-वर्ष में अब से अस्सी वर्ष पहले विविध प्रान्तों में विभिन्न जातियाँ अपराधी घोषित की गईं। राजपूताना में कंजर, सांसी, नट, बावरी आदि जातियों को अपराधी मान लिया गया।

सरकारी नियंत्रण और उसका घातक प्रभाव—

समय से अब तक इन जातियों पर कठोर नियंत्रण रखा गया। इधर-उधर छिपे हुए इन जातियों के लोगों को एक स्थान पर एकत्रित किया गया और निकटवर्ती थाने या चौकी की कड़ी नजर इन पर रही; दिन में दो बार इनकी हाजिरी ली जानी लगी। असमय में इधर-उधर घूमते मिलने पर इन्हें कड़ी सजायें दी जाने लगीं। कितने ही अवसरों पर असमर्थ पुलिस ने किन्हीं दूसरों का दोष इन पर थोप अपनी जान बचाई।

इस कठोर नियंत्रण और सीमित आर्थिक उन्नति के कारण इन जातियों पर घातक प्रभाव पड़ा। शिक्षा का एकदम अभाव, शोचनीय आर्थिक अवस्था, सामाजिक अवहेलना और सरकार की दण्डनीति ने उनमें अज्ञान की नींव डाली और इन्हीं के कारण उनमें चालाकी इत्यादि उनकी आधुनिक जातीय विशेषताओं का जन्म हुआ। नियम के विरुद्ध काम करना उन्हें परम्परागत दिखाई दिया, और उन्होंने अपनी जाति के लिये ऐसे नियम बनाये, जिनमें उनके कार्यों और जीविका कमाने के समाज विरुद्ध साधनों को उचित और मान्य ठहराया गया।

इन्हीं नियमों की जड़ गहरी जमाने के लिये मां ने अपने बच्चों को चोरी सिखाई और इस प्रकार की कला की शिक्षा, जन्मघुट्टी के साथ उसके गले के नीचे उतारी। निंदिया रानी को बुलाने के लिये उसने

वे गीत गाये, जिनमें पिता पुलिस के दल को धोखा देकर बच भागा था, और वह उसे पेट में लिये किसी अमीर के मकान के बाहर सेंध में से निकलते हुए, उसके पिता के जीवन की प्रार्थना कर रही थी।

सुधार की आवश्यकता—इन जातियों के आदमी अब ऐसे घरों में रहते हैं जो रहने के योग्य नहीं, वर्षा, गर्मी और सर्दी से जिनमें बचाव नहीं। और, उनका भोजन वह है जिसे हम खाद्य नहीं समझते। अज्ञान इतना है कि वे यह भी नहीं जानते कि उनका देश अथवा वे स्वतंत्र हैं। इनके उत्थान के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है। सर्व-प्रथम इनकी आर्थिक समस्या का सुलझाना आवश्यक है। इनका स्वास्थ्य, रहने लायक मकान और बच्चों की शिक्षा-दीक्षा भी आवश्यक है। यह सब बात इतनी मिली-जुली हैं कि ये आसानी से अलग-अलग नहीं की जा सकतीं। इसलिये इनके उत्थान के प्रयत्न के साथ उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मिले जुले प्रयत्न होना अनिवार्य है।

विशेष वक्तव्य—अस्तु किसी भी जाति को अपराधी या जरायम-पेशा नहीं ठहराया जाना चाहिए। लोगों का अपराधी होना बहुत-कुछ उनकी परिस्थिति पर निर्भर है और सामाजिक वातावरण का उनपर बहुत प्रभाव पड़ता है। परिस्थितियों और वातावरण के सुधार सम्बन्धी प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू भी अच्छे उपयोगी नागरिक बन सकते हैं। इसलिए हर राज्य में इस दिशा में यथेष्ट प्रयत्न होता रहना चाहिए। इस विषय पर विशेष आगे विचार किया जायगा।

—:०:—

❁ 'नवजीवन' (उदयपुर) में प्रकाशित, श्री पूर्णचन्द्र शर्मा के लेख से।

तेरहवाँ परिच्छेद

मानसिक स्थिति

—:०:—

मानसिक भारसाम्य में गड़बड़ी के बिना, चाहे वह थोड़ी ही देर के लिए स्थायी क्यों न हो, कई अपराध ऐसे हैं, जो हो ही नहीं सकते जैसे हत्या, बलात्कार, मारपीट, दंगा, आत्म हत्या इत्यादि । आत्म हत्या के सम्बन्ध में तो यह समझा जाता है कि ऐसा करते समय अपराधो सामयिक तौर पर बिल्कुल पागल हो जाता है ।

—मन्मथनाथ गुप्त

कार्य के लिए विचार की अनिवार्यता—आदमी जो काम करता है, उसका उसके मन में विचार आता है; कुछ दशाओं में यह विचार काफी समय तक रहने के बाद कार्य-रूप में परिणत होता है, और कुछ दशाओं में विचार मन में आने और कार्य में परिणत होने में समय का इतना कृम अन्तर होता है कि विचार करने का काम कब हो गया, इस का सहज पता नहीं चलता । यहाँ तक कि कहा जाता है, कि वह काम बिना विचारे ही कर दिया गया । वास्तव में यह नहीं कहा जा सकता कि उस काम का विचार मन में बिल्कुल आया ही नहीं ।

मानसिक परीक्षा—बालक धीरे-धीरे सोचना विचारना सीखते हैं । उनकी मानसिक परीक्षा की विविध पद्धतियों का आविष्कार किया गया है । सन् १६०४ में ए० बिनों और टामस सिमों नाम के दो मनोवैज्ञानिकों

ने हर एक उम्र के बालकों के लिए कुछ औसत दर्जे के प्रश्न निर्धारित किए, जिनका उत्तर उस उम्र के बालक दे सकते हैं। अपने प्रयोगों के आधार पर वे कह सकते हैं कि किसी बालक का विकास कहाँ तक हुआ है। उसकी परीक्षा के अनुसार कोई बालक तेरह-चौदह वर्ष का होने पर भी मानसिक विकास की दृष्टि से केवल सात या आठ वर्ष का ठहर सकता है, अथवा किसी पच्चीस वर्ष के आदमी का मानसिक विकास औसत दर्जे के सोलह वर्ष के लड़के की तरह हुआ कहा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति बड़े होकर भी मानसिक बचपन की दशा में होते हैं। अनेक बार हम किसी का व्यवहार देख कर कह दिया करते हैं कि उसमें बड़ा लिलोपन है।

दुर्बल-चित्तता और अपराध; बुद्धिमान अपराधी— डा०

टरमान ने अपनी पुस्तक (दि मेजरमेंट आफ इन्टेलीजेन्स) में इस प्रश्न पर विचार किया है कि जो लोग दुर्बलचित्त हैं, वे इतनी आमानी से अपराध की ओर क्यों बढ़ते हैं? सरल से सरल तरीके से इसका जवाब यों दिया जा सकता है कि नैतिकता दो बातों पर निर्भर है, एक तो यह कि मनुष्य यह जान सके, कि किसी काम का प्रभाव उसके लिए तथा दूसरों के लिए क्या होगा, दूसरा यह कि वह आत्मसंयम के लिए इच्छुक तथा समर्थ हो। बहुत से बुद्धिमान अपराधी पाए जाते हैं, इसका कारण यह है कि उनमें प्रथम गुण तो है किन्तु दूसरा नहीं है। दूसरे गुण का उपयोग होना तभी संभव है, जब पहला गुण हो। यदि किसी की बुद्धि एक बच्चे की तरह रहे तो वहाँ नैतिकता फल-फूल नहीं सकती।*

मानसिक स्थिति और आत्म-हत्या—संसार में बहुत से, अपराध मनुष्यों की मानसिक स्थिति और भावुकता या स्वार्थ-भाव आदि के कारण होते हैं। किसी आदमी को चाहे जितने भौतिक साधन प्राप्त हों, फिर भी उसके मन में तरह-तरह की चिन्ताएं हो सकती हैं। संसार की सब

* 'अपराध' में उद्धृत 'रिपोर्ट आफ दि इंडियन जेल कमेटी'।

बातें हमारी इच्छा के अनुसार नहीं हुआ करतीं। कभी किसी का वियोग होगा, कभी किसी कार्य में विफलता भी मिलेगी। ऐसे अवसरों पर बहुत गम्भीरता, शान्ति और संयम रखने की आवश्यकता है। परन्तु जब ऐसा न हो—क्षोभ, निराशा आदि मन में घर करलें—तो अनेक अपराधों की सृष्टि होना स्वाभाविक ही है।

उदाहरणवत् हम विचार करें कि एक विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है, घर वाले और इष्ट-बन्धु उसे समझाते हैं कि कुछ चिन्ता की बात नहीं, घर में धन की कमी नहीं, ऐसी बात नहीं कि परीक्षा में पास होता तो नौकरी करके अपना अथवा और किसी का भरण-पोषण करता। इस पर भी विद्यार्थी चिन्ता और निराशा के वेग को रोकने में असमर्थ है, और रेल की पटरी या कुण्ड को अपना आश्रय-स्थान बना कर 'आत्म-हत्या' के अपराध का भागी बनता है। कुछ नवयुवकों की ही बात नहीं है। प्रौढ़ आयु वाले कई धन-कुवैरों द्वारा, समय-समय पर की जाने वाली आत्म-हत्या के समाचार पाठकों से छिपे नहीं हैं। उन्हें वह सुख-साधन उपलब्ध थे, जो रुपये-पैसे से प्राप्त हों। फिर भी किसी मानसिक क्षोभ के कारण वे अपने प्राण-प्रेतों को इस संसार में न रख सके।

एक व्यक्ति का पुत्र चल-बसता है, अथवा वह अपने अभीष्ट स्त्री या पुरुष का प्रेम प्राप्त करने में सफल नहीं होता, दो स्त्रियों की आपस में लड़ाई होती है, या एक स्त्री का किसी बात पर अपने पति से बिगाड़ हो जाता है, या वह वस्ती में अपने चरित्र की निन्दा सुनती है। बस, आत्म-हत्या के दृश्य उपस्थित होने की आशंका हो जाती है। भारतवर्ष में स्त्रियों की आत्म-हत्या की संख्या पुरुषों की संख्या से चौगुनी है। (इस का कारण भावुकता के अतिरिक्त सामाजिक और पारिवारिक कुरीतियाँ हैं।) ये लोग अपने प्राणों का, तथा अपने इष्ट-बन्धुओं का मोह एक-दम छोड़ कर अपनी ऐहिक लीला का ऐसा अन्त करने को उद्यत क्यों हो जाते हैं? बात यह होती है कि ये निर्बल मस्तिष्क वाले होते हैं। इन में संतोष, धैर्य,

सहिष्णुता की कमी रहती है। प्रतिकूल परिस्थिति में अपने आप को सभाल नहीं सकते, और संसार-सागर में तैरते रहने में असमर्थ हो जाते हैं।

मस्तिष्क की अत्यधिक थकावट से धिक्कित होकर भी आदमियों के आत्म-हत्या करने के उदाहरण समय-समय पर मिलते हैं।

बाल-बच्चों की हत्या—चिन्ता और निराशा की स्थिति में आत्म-हत्या करने से पूर्व अनेक बार आदमी अपने निकटस्थ आत्मीयों की भी हत्या कर डालता है। उदाहरणवत् जब पिता (या माता) यह सोचता है कि मैं बच्चों का पालन-पोषण नहीं कर सकता, उन्हें भूख का अत्यन्त कष्ट सहते हुए धीरे-धीरे बड़ी व्याकुलता में प्राण विसर्जन करने होंगे, तो बच्चों के कष्ट देखने में असमर्थ होने से वह अपने मरने से पूर्व उन को इस कष्ट से सदैव के लिये मुक्त करने को कटिबद्ध हो जाता है।

‘प्रताप’ का निम्न-लिखित उद्धरण विचारणीय है :—“बम्बई में एक रामराव नाम का आदमी था। वह बेचारा लगातार रोटियों की तलाश में इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहा। लेकिन बेकारी भला उसकी दाल कैसे गलने देती? भूख ने तो मानों रामराव की और उसके कुटुम्बियों की बलि लेने का निश्चय कर लिया था। जब बेचारा गरीब अपनी कोशिशें करके हार गया, और, कहीं उसका ठिकाना न लगा तब एक दिन उसने अपनी १४ और ११ वर्ष की दो लड़कियों को अपने हाथ से जहर खिला कर मार डाला, और खुद भी एक शस्त्र से अपनी हत्या करके, बेकारी के दुःख-समुद्र के उस पार चला गया।” इन पंक्तियों पर कुछ टीका करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। ये प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के हृदय को दहलाने वाली हैं। ऐसे अवसर पर यह कहना निरर्थक है कि ‘बच्चों की हत्या तथा आत्म-हत्या करने वाला बड़ा पापी था, वह नरक को जायगा।’ उस ‘हत्यारे’ की वेदना का अनुमान वे ही कर सकेंगे, जिन्हें दुर्भाग्य से उसकी स्थिति में पड़ने का मौका मिला हो।

उपर्युक्त पत्र की आगे की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :—“अभी

इस खबर के कुछ ही दिन पहले समाचार आया था कि एक मां ने अपने दो बच्चों को, भूख से तड़पते देख कर उन्हें मार डाला, और खुद भी आत्म-हत्या करने पर उद्यत होगयी; इसी बीच में वह पकड़ ली गयी और फिर बाद में कानून का तांडव-नृत्य प्रारम्भ हुआ ।”

सम्भवतः कानूनदां आदमी उस स्त्री को अपराधी, और दंड के योग्य समझेंगे। परन्तु विचारणीय विषय यह है कि जो बेचारी स्वयं काफ़ी से ज्यादा कष्ट पा रही है, वह दंड की पात्र है, या सहानुभूति की। उसे दंड देने की बात कहना स्वयं क्रूरता का भी उपहास करना है।

अन्य अपराध— क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, बदला लेने का भाव आदि सब मानसिक विकार के ही विविध रूप हैं, और इनके कारण मनुष्य तरह-तरह के अपराध करते देखे जाते हैं। एक आदमी ने जान-बूझ कर, या बिना सोचे-समझे हमें कुछ हानि पहुँचायी। हमें क्रोध आ जाता है, हम आगे-पीछे का कुछ विचार नहीं करते; किस कारण से अथवा कितनी वास्तविक हानि हुई है, यह नहीं सोचते, और तुरन्त उस आदमी को, जैसा मन में आया बुरा-भला कहने या मारने-पीटने, अथवा उसकी हत्या तक करने पर उतारू हो जाते हैं। हम उस समय आपे में नहीं रहते। सम्भव है, कुछ समय पीछे हमें स्वयं अपने किये का अत्यन्त दुःख हो, पर जो तीर हाथ से निकल जाता है, वह फिर लौट नहीं सकता।

सोहन और मोती एक ही नगर के निवासी हैं, और एक ही जाति के हैं। यद्यपि सोहन को खाने-पीने की कुछ कमी नहीं है, पर मोती के पास मकान जायदाद बाग-बगीचा बहुत है, और शायद वह सोहन को तुच्छ समझता है। बस, सोहन मन ही मन उससे जलने लगता है, वह यही सोचता है कि उसके पास इतनी धन-दौलत और मेरी यह हीनावस्था ! मैं भी उतनी ही, या उससे भी अधिक ज़मीन जायदाद आदि का मालिक क्यों नहीं ! वह मोती को छल-कपट आदि द्वारा, हानि पहुँचाने का यत्न करता है, उसके घर आदि में आग लगाने या लगवाने की बात सोचता

है, अथवा मौका पा कर वह मोती के बाल बच्चों को या स्वयं मोती को कुछ कष्ट देना चाहता है। उसके इन कुकृत्यों का आधार बहुत कुछ उसकी ईर्ष्या है।

एक आदमी दूसरे से किसी विषय की प्रतियोगिता में, या मुकदमेबाजी आदि में हार जाने से मन में बहुत दुखी होता है। वह सोचता है किस प्रकार मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाऊँ और सर्वसाधारण में अपनी पूर्ववत् प्रतिष्ठा स्थापित करूँ। वह उचितानुचित का विचार नहीं करता और निम्न उपायों को काम में लाने से नहीं डरता। उसके 'अपराधों' का कारण भी मानसिक ही है; यदि वह शान्ति से विचार करे तो प्रायः उसे अपने उस व्यवहार के लिये यथेष्ट कारण प्रतीत नहीं होगा।

स्वार्थ-प्रवृत्ति और अपराध — मनुष्य अपने सुख और सुविधाओं के लिए समाज में रहता है। सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुए उसे कुछ नियमों का पालन करना होता है। उसे यह ध्यान रखना होता है कि दूसरों के हित में समाज की रक्षा या उन्नति में कोई बाधा न पहुँचे। समाज-रक्षा आदि का भी मूल आधार मनुष्य का स्वार्थ ही है, तथापि साधारण मनुष्य उस ओर उतना ध्यान नहीं देता जितना प्रत्यक्ष और निकटवर्ती स्वार्थों की सिद्धि की ओर देता है। बहुधा उसके (निकटवर्ती) स्वार्थों का और समाज-रक्षा की भावना का संघर्ष हो जाता है। जब इस संघर्ष में स्वार्थों की विजय हो जाती है तो वह विजय किसी न किसी अपराध के रूप में दृष्टि-गोचर होती है। अपराध-विषयक कानून या दण्ड, समाज-रक्षा की भावना को हमारे निकट स्वार्थ का रूप प्रदान करने का प्रयत्न करता है क्योंकि कानून द्वारा निर्धारित दण्ड से बचने में हमारा स्वार्थ प्रत्यक्ष है। परन्तु यह कानून या दण्ड बहुत कम सफल होता है; इसका विचार पहले किया जा चुका है। स्वार्थपरता को रोकने के लिए आवश्यक है कि नागरिकों में उच्च स्वार्थ की भावना पैदा की जाय; वे जान लें कि दूसरों के हित और उन्नति में हमारा भी कल्याण है, यही

नहीं, वे अपने स्वार्थ को समाज के स्वार्थ में लीन कर दें और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा समाज के स्वार्थ सिद्ध करने में अधिक आनन्द का अनुभव करें।

पागल और अपराध—यह विषय बहुत विवादग्रस्त है कि मानसिक विकार की किस सीमा पर पहुँचने पर आदमी को अपने किए अपराध के लिए जिम्मेदार न समझा जाय। तथापि उन्नत राज्यों में पागलों को अपराधों के लिए जिम्मेदार नहीं समझा जाता। हाँ, पागल की परिभाषा समय-समय पर बदलती रही है। कुछ जजों का मत है कि पागल उस व्यक्ति को कहा जाय, जिसके बारे में यह साबित हो जाय कि उसका मस्तिष्क इतना विकृत है कि वह जो काम करे, उसके गुण तथा प्रकृति से अपरिचित हो, और यदि वह परिचित भी हो तो वह यह न जान सके कि वह कोई बुरा काम कर रहा है।

यहाँ अपराधों के मानसिक पहलू का विचार किया गया। शारीरिक परिस्थिति के प्रभाव का विचार अगले परिच्छेद में किया जायगा।

—:०:—

चौदहवाँ परिच्छेद

—:०:—

शारीरिक स्थिति

‘अपराधी एक रोगी है, जिसे चिकित्सा की आवश्यकता है। वह मानसिक दृष्टि से रोगी है जैसे कि वह शारीरिक दृष्टि से रोगी है। कोई स्वस्थ बालक कभी अपराधी नहीं होता।’

—‘फ़िज़िकल कलचर’

इस परिच्छेद में यह विचार करना है कि शारीरिक स्थिति का, मनुष्य पर अपराध करने के सम्बन्ध में क्या प्रभाव पड़ता है। शारीरिक स्थिति

के विचार से मनुष्यों का एक प्रत्यक्ष भेद स्त्रियों और पुरुषों का है, अतः हम पहले इसी दृष्टि से विचार करते हैं ।

स्त्री-पुरुष भेद—कुछ जांच करने वालों को मालूम हुआ है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां प्रायः कम अपराध करती हैं । और, यदि उन के बाल-हत्या के, या बे-वफा पति या प्रेमी की हत्या के अपराधों को पृथक् कर दिया जाय, जो वे बहुधा भावुकता के कारण किया करती हैं, तो उन के अपराध और भी कम रह जाँय । परन्तु यह बात घोर तथा हिंसात्मक अपराधों के विषय में है, साधारण अपराध करने में स्त्रियां पुरुषों से कम नहीं हैं । कुछ पाश्चात्य लेखकों का विचार है कि स्त्रियों की वेश्यावृत्ति को अपराध न माना जाय, परन्तु दूसरों का इस से मत-भेद है । उन के विचारानुसार वेश्या अपराधी ही है । अस्तु, वेश्याओं द्वारा अन्य अपराध कम होने का अनुमान किया जाता है । अधिकांश विचारकों का मत है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ स्त्रियों के घोर अपराधों की भी मात्रा बढ़ती जाती है, और पुरुषों के अपराधों के समान होती जाती है ।

पूर्वोक्त अपराधों के अतिरिक्त, स्त्रियां प्रायः वे अपराध अधिक करती हैं, जो उन्माद या हिस्टीरिया की दशा में होते हैं, अथवा आकस्मिक होते हैं । उन के मुख्य अपराध घरेलू चोरी करने, अपराधियों को ठहराने, दूसरे अपराधियों की सहायक बनने आदि के होते हैं ।

यह बात विशेष ध्यान देने की है कि प्रायः माता बनने के बाद स्त्रियों में दूरदर्शिता, विवेक, दया, प्रेम, तथा नैतिक भावनाओं की वृद्धि हो जाती है । उनका ज्ञान बढ़ जाता है । स्त्रियों की कई बीमारियां विशेषतया हिस्टीरिया आदि, गर्भ-धारण करने के पश्चात् कम हो जाती हैं, तथा कुछ बीमारियां जो उन्हें गर्भवती होने की दशा में रहती हैं, सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् दूर हो जाती हैं । अन्य प्रकार से समान अवस्था की दो स्त्रियों में जिन में एक माता बन रही हो, और दूसरी ऐसी न हो, बहुधा विलक्षण अन्तर देखने में आता है । मालूम होता है कि प्रकृति ने स्त्रियों को

मातृत्व के महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथेष्ट अनुकूलताएं प्रदान की हैं।

बालकों में अपराध प्रवृत्ति—बालकों के विषय के विशेषज्ञों का मत है कि अपराध करने की जैसी प्रवृत्ति आदिम असभ्य लोगों में होती है, लगभग वैसी सभी बच्चों में होगी, अगर नैतिक शिक्षण या अच्छे उदाहरणों का उन पर प्रभाव न पड़े। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि सब बच्चे बड़े होकर अपराधी ही बनेंगे। फिर तो सभी आदमी अपराधी हुआ करें। बात यह है कि बच्चों के वयस्क अर्थात् बालिग होते ही, उन में से बहुत से ठीक हो जाते हैं। नैतिक भावना की जो कमी कुछ बालिगों में होती है, वह बच्चों में सब में होती है। बच्चों में प्रायः धूम मचाना, बदला लेने की इच्छा करना, क्रोध करना स्वभावतः होता है। वे प्रारम्भिक वर्षों में नैतिक-ज्ञान-शून्य होते हैं। उन के लिये अच्छा कार्य वही है, जिस की माता-पिता आदि अनुमति देते हैं, और बुरा वह है, जिसका निषेध किया जाता है। स्वतंत्र निर्णय करने में वे असमर्थ होते हैं। उन में प्रायः सुस्ती, प्रेम की कमी, या अस्थिरता और वाक्चपलता बहुत होती है।

आयु का विचार—स्थान-भेद से कुछ अन्तर होते हुए, अधिकतर अपराध प्रायः १४ और २२ वर्ष के बीच की आयु में किये जाते हैं। हर एक आयु के कुछ खास-खास अपराध होते हैं। बचपन और बालिग अवस्था के बीच की उम्र में नियम-भंग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, उसे अपरिपक्व मन वाले मर्दानगी का लक्षण माना करते हैं। उदाहरण-स्वरूप, कुछ समय हुआ अमरीका के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ था कि एक तालाब में स्नान करने से मना करने पर एक अध्यापक के १६ वर्ष के पुत्र ने पुलिस के सिपाही को मार डाला। एक व्यापारी के लड़के को उसकी सौतेली मां की मां ने अपनी मोटर पर चढ़ा

कर गिरजाधर के नाच में जाने से मना किया; उस सोलह वर्षीय लड़के ने अपनी उस नानी को मार डाला। एक अच्छे कुटुम्ब के १७ वर्ष के लड़के ने केवल तमाशे के खयाल से १ आदमी, २ लड़कियों और ५ मेक्सीकन लोगों को गोली से मार डाला। इन बालकों की अनेक संस्थाएं उन्हें अपराध करने में सहायता देती हैं। अमरीका की एक संस्था ने पता लगाया था कि डकैती के अपराध में गिरफ्तार लोगों में से पांचवा हिस्सा २० वर्ष से कम के बालकों का है। चोरी के अपराध में गिरफ्तार हुए व्यक्तियों में से एक तिहाई बीस वर्ष की उम्र तक नहीं पहुँचे हैं। एक पन्द्रह वर्ष के बालक पर पचास अपराध करने का दोष लगाया गया है।

ऊपर दिये हुए अंक एक खास देश के और खास समय के हैं विविध समय पर लिए हुए अन्य देशों के अंकों से भी यही परिणाम निकलने की आशा है कि युवावस्था में अपराध अपेक्षाकृत अधिक करने की प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक राज्य को चाहिए कि इस अनुभव से लाभ उठावे और युवकों का उचित मार्ग-प्रदर्शन करे।

अस्वस्थता और अपराध—अमरीका और इंग्लैंड में जेल के कैदियों के स्वास्थ्य के सम्बंध में खोज होने के बाद यही नतीजा निकला है कि वहाँ के साधारण स्वास्थ्य से तुलना करने पर कैदी कमजोर होते हैं। कुछ समय हुआ, न्यूयार्क के एल्मरा रिफार्मेटरी में ८००० कैदियों की जांच से मालूम हुआ था कि २५ फी सदी के सिर पर गहरी चाँट के निशान हैं या बेकार करने वाली बीमारियों का असर है, २८ फी सदी को तपेदिक है, और ४३ फीसदी को भेदी बीमारियाँ हैं। इसके विपरीत, कुछ सज्जनों के संगृहीत अंकों से यह भी सिद्ध किया गया है कि बाल-अपराधियों में अधिकतर शारीरिक दृष्टि से अति विकसित थे। इन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि गरीबी से उत्पन्न अपुष्टि से अपराध होने की बात गलत है। हमें यहाँ आर्थिक स्थिति का विचार न करके यही कहना है कि प्रायः नागरिकों में स्वास्थ्य की जितनी कमी होगी, उतनी ही उ।में

अपराधों की वृद्धि होगी । चाहे वह स्वास्थ्य की कमी अपुष्टि के रूप में हो या अति-पुष्टि के रूप में ।

पता लगाने पर मालूम हुआ है कि साधारण आदमियों की अपेक्षा दुबले-पतले आदमी ही अधिक आत्म-हत्या किया करते हैं, परन्तु इन से भी अधिक संख्या में आत्म-हत्या करने वाले होते हैं, मोटे आदमी । अस्तु, साधारणतया, स्वस्थ लोगों में अपेक्षाकृत बहुत थोड़े ही ऐसे होते हैं, जो आत्मघात द्वारा प्राण-विसर्जन करते हैं । यही बात अन्य अपराधों के सम्बन्ध में है । नागरिकों को चाहिए कि यथा सम्भव ऐसे मादक तथा उत्तेजक पदार्थों का सेवन न किया करें जो शारीरिक (और मानसिक) विकारों के उत्तेजक और अपराध-प्रवृत्ति को बढ़ाने वाले हों ।

—:०:—

पंदरहवां परिच्छेद

प्राकृतिक परिस्थिति

—:०:—

अनेक अपराध मनुष्यों के आचार-विचार के परिणाम-स्वरूप होते हैं, और मनुष्यों के आचार-विचार पर खासा प्रभाव प्राकृतिक स्थिति का, सर्दी, गर्मी आदि का पड़ता है । यह सत्य है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्नति करता है, सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों वह अपनी वैज्ञानिक तथा आत्मिक उन्नति से प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करता है । इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक स्थिति का मनुष्यों के कार्यों या अपराधों पर पड़ने वाला प्रभाव बहुधा प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देता । तथापि अनेक लोगों का मत है कि वह प्रभाव थोड़ा-बहुत पड़ता जरूर है ।

सर्दी-गर्मी और अपराध—खास-खास ऋतुओं में, कुछ देशों में विशेष प्रकार के अपराधों की वृद्धि होने का प्रायः अनुभव होता है। उदाहरणार्थ शीत-प्रधान देशों में, सर्दी की मौसम में अनेक निर्धन व्यक्ति यथेष्ट वस्त्र, कोयला, चाय या शराब प्राप्त करने में सफल न होने के कारण चोरी के अपराध अधिक करते हैं। और, अत्याधिक गर्मी होने पर मृगी के दौरे, चंचलता, दुर्गुण, हिंसक उपद्रवों की वृद्धि होती है। इसी प्रकार जल-वायु के आकस्मिक परिवर्तन से भी मनुष्यों की निहित या गुप्त अपराध-प्रवृत्ति को जागृत या चैतन्य होने की प्रेरणा मिलती है, और, वे अपराध-मूलक कार्य करने लगते हैं।

प्राकृतिक अवस्था और आत्म-हत्या—अन्यान्य अपराधों में आत्म-हत्या पर भी प्राकृतिक अवस्था का बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इस सम्बन्ध की व्योरेवार बातों में विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। श्री० डाक्टर रविप्रतापसिंह जी श्रीनेत ने लिखा है—किसी खास जलवायु, गर्मी की ऋतु तथा कटिबन्ध से भी इस रोग का विशेष सम्बन्ध है। उष्ण तथा आर्द्र जलवायु, गर्मी की ऋतु तथा उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों में यह रोग अधिकतर पाया जाता है। इसका खास कारण यही है कि इन परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति प्रायः भावुक, आवेशपूर्ण तथा उन्मादी होते हैं। इसके सिवा मास के शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की शान्तिमूलक रश्मियों में एक प्रकार की उन्मादी शक्ति होती है, जो आत्म-घात के जीवाणुओं में शक्ति संचार कर उन्हें उन्मादी बना देती है। अक्सर देखा जाता है कि शुक्ल पक्ष की ज्योत्सना ही दो प्रेमियों को प्रेम-मद से उन्मादित कर, विद्विष्ट और कभी-कभी तो पागल ही बना देती है।^१

एक पाश्चात्य विद्वान को, जांच से पता चला है कि सब से अधिक आत्म-हत्याएं वसन्त ऋतु में, और सब से कम, शीत काल में होती हैं।

कई वर्षों के आंकड़ों की तुलना करने पर सत्र से बढ़ कर विचित्र बात यह मालूम हुई है कि सत्र से अधिक आत्म-हत्याएँ होती हैं, जून की ११ तारीख को, और मंगलवार ही प्रायः सत्र से बढ़ कर घातक दिन है। पार्श्वगत देशों में आत्म-हत्याएँ विशेषतः ऐसे समय होती हैं जब वर्षा होती है।

देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न जिज्ञासुओं के अनुभव में अन्तर होना स्वाभाविक है। कोई सर्व-व्यापी सिद्धान्त स्थिर करना कठिन है।

प्राकृतिक स्थिति और सभ्यता—यद्यपि जैसा कि हमने पहले कहा है, सभ्यता की वृद्धि के साथ मनुष्यों में प्राकृतिक स्थिति को नियंत्रित करने की क्षमता बढ़ती जाती है, तथापि स्वयं सभ्यता की उत्पत्ति या वृद्धि में प्राकृतिक कारणों का खासा भाग रहता है। महाशय वल्ल का सिद्धान्त है कि सभ्यता की उत्पत्ति के मुख्य कारण जलवायु, भूमि, भोजन तथा प्राकृतिक स्थितियाँ ही हैं। इन में से जहाँ प्रथम तीन पूँजी की वृद्धि तथा विभाग द्वारा समाज को उन्नत करते हैं, वहाँ चतुर्थ से विचार की वृद्धि द्वारा समाज की उन्नति होती है। भयानक, अदृश्य तथा क्रूर प्राकृतिक परिस्थिति मनुष्य की कल्पना-शक्ति को बढ़ाती है, और मधुर तथा शान्त प्राकृतिक परिस्थिति विचार-शक्ति को।*

श्री० वल्ल के सिद्धान्त का बहुत कुछ खंडन किया गया है, तथापि उसमें कुछ सार-भूत सच्चाई है। प्राकृतिक स्थिति का मनुष्यों के स्वास्थ्य रहन-सहन, सभ्यता और विचारों पर एक सीमा तक प्रभाव पड़ता है, जिन के कारण वह कुछ विशेष प्रकार के कार्य तथा अपराध करने को प्रेरित हो सकता है। हाँ, यह प्रभाव कितना या कहाँ तक पड़ता है, इस विषय में पर्याप्त मत भेद है। पहले यह प्रभाव बहुत अधिक माना जाता था, अब उसे विशेष महत्व नहीं दिया जाता।

* 'सभ्यता के इतिहास' के आधार पर।

फिरने लगते हैं। आवागमन में आदमी तरह-तरह के अपराध करने का विचार और प्रयत्न किया करते हैं। बहुत से आदमी अपनी गरीबी के कष्ट को भूलने के लिए शराब आदि का नशा करते हैं और नशा अनेक अपराधों का कारण होता ही है।

हमने कहा है कि गरीबी अनेक अपराधों की जननी है, तो क्या गरीब देशों में धनी देशों की अपेक्षा अपराध अधिक होते हैं ! यदि ऐसा हो तो भारत में, जो औसत आमदनी की दृष्टि से बहुत ही गरीब है, संसार के सबसे अधिक धनवान देश अमरीका की अपेक्षा कई गुने अधिक अपराध हुआ करें। परन्तु सब जानते हैं कि ऐसा नहीं होता। वास्तव में, अमरीका में अपराध बहुत अधिक होते हैं। बात यह है कि दो भिन्न-भिन्न आर्थिक स्थितियों वाले देशों के अपराधों की तुलना करते समय हमें वहाँ प्रचलित रहन-सहन के दर्जे का भी ध्यान रखना चाहिए। जिन दो देशों का रहन-सहन का दर्जा बराबर है, उनमें से जो गरीब हैं, उसमें अपराध अपेक्षाकृत अधिक होने की संभावना होती है।

बेकारी में अपराध—बेकारी भी अनेक अपराधों की जननी है। यह कहावत ठीक ही है—‘आलसी आदमी का दिमाग शैतान का कार्यालय है।’ जब बेकार आदमी के पास कोई सम्पत्ति या जायदाद नहीं होती और वह ऋण लेकर अपना निर्वाह करने लगते हैं तो बहुधा वह जन्म भर उसकी चिन्ता से मुक्त नहीं हो पाता। बेकारी में जुआ, सट्टा आदि भी खूब सुरू होता है; कारण, आदमी सोचता है कि सम्भव है ऐसा करने से वह एक-दम मालामाल हो जाय। बेकार आदमी को मनोरंजन के साधन सुलभ न होने से उसके जीवन में बड़ी नीरसता रहती है, इससे उसकी प्रवृत्ति मैथुन की ओर होती है। अब यदि वह विवाहित हो तो उसकी दुःखी सन्तान उसका दुःख और बढ़ाती है। और, अगर वह अविवाहित हो तो वह कुमार्गगामी होकर अपने लिए विविध आपत्तियों को निमंत्रित करता है। निदान बेकारी अपराध बढ़ाती है।

चोरी, लूट-मार आदि—जब गरीब या बेकार आदमी को स्वयं भूखा रहने तथा बाल-बच्चों को भूखा मरते देखने का अवसर आता है तब यदि वह अत्यन्त ही निराश न हो गया (जिस अवस्था का विचार तेरहवें परिच्छेद में किया जा चुका है), तो उसके लिए भिक्षा या चोरी का मार्ग खुला मालूम होता है । ऐसे व्यक्तियों में से, जो आदमी स्वभाव से या कानून-वश भिक्षा नहीं मांग सकता, या जिसे भिक्षा नहीं मिल सकती, वह चोरी का अवलम्बन करे तो क्या आश्चर्य है । चोरी करनेवाले को लूट-मार करनेवाला बनने के लिए विशेष मार्ग तय करना नहीं पड़ता ; कभी-कभी तो उसके संगी साथी ही उसे यह पाठ पढ़ा देते हैं । इस प्रकार आर्थिक परिस्थिति अनुकूल न होने की दशा में एक-से-एक अधिक भयंकर और घातक चोरी तथा लूट-मार की घटनाएँ होती रहती हैं ।

धोखेबाजी—बहुत से आदमी अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर धोखेबाजी भी करते हैं, और इसके लिए आज-कल नित्य नये ढङ्ग निकलते जाते हैं । कोई जाली दस्तखत करके दूसरे का द्रव्य-हरण करना चाहता है, कोई व्यापारी के रूप में किसी तरह बाजार में एक बार अपनी प्रतिष्ठा जमा लेने पर, बहुत-सा माल उधार लेकर वहां से चम्पत हो जाता है । कोई अपने एक नाम से चलने वाले कारोबार में दिवाला निकाल कर, भूट दूसरे और पीछे क्रमशः तीसरे और चौथे नाम से काम करते सुने गए हैं । अस्तु, कहां तक गिनाया जाय, धोखेबाजियों के विविध स्वरूपों का कुछ अन्त नहीं है ।

रिश्वतखोरी—रिश्वतखोरी का अपराध उन्हीं लोगों तक परिमित रहता है, जिन्हें कुछ-कुछ सत्ता और 'अधिकार' प्राप्त हो । यह बात नहीं है कि बड़ी-बड़ी तनख्वाहें और भत्ता आदि पाने वाले, रिश्वत स्वीकार नहीं करते—वह तो कभी-कभी बड़ी-बड़ी पैलियां हज़म कर जाते हैं, और आज कल तो नोटों का प्रचार होने से उनका कार्य और भी सुगम हो

गया है। परन्तु इस परिच्छेद में हमें उन छोटे आदमियों की ही बात करनी है, जिन्हें 'ऊपर की आमदनी' बिना अपना तथा अपने परिवार का पालन करना कठिन होता है। बहुधा राज्यों में भारी-भारी जिम्मेवारी वाले अनेक पदों के लिए छोटी-छोटी तनख्वाहें दी जाती हैं ! इन पदों के लिए आकर्षण उनका वेतन नहीं होता, वरन् उन पदों पर रहते हुए ली जा सकने वाली रिश्त होती है। इस सम्बन्ध में यह कहावत बड़ी अर्थ-पूर्ण है, "छः के चार करदे, पर नाम दारोगा धर दे।"

ऋण सम्बन्धी मामले—अपराधों में ऋण के मामलों की खासी संख्या रहती है। साधारण स्थिति के आदमी जब ऋण लेते हैं तो प्रायः उन्हें यह आशा होती है कि वे भविष्य में अपनी कमाई में से उसे क्रमशः चुका देंगे। इनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं होती। यदि ऋण का सूद खूब ज्यादा हो, और संयोग से इन की खेती आदि मारीजाय तो इन्हें उस ऋण से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। अनेक दशाओं में तो ये लोग अपना पेट भरने लायक भी नहीं होते। ऐसे आदमियों पर ऋण के मुकद्दमे चलाना, और जब उन के पास से कुछ वसूल न हो सके तो उन्हें जेल भेजना कहां तक उचित है ! वे बेचारे वैसे ही मरे-मराए हैं, फिर, उन्हें ऋण न चुका सकने की दशा में बेईमान तथा अपराधी कह कर बदनाम करना वास्तव में जले पर नमक छिड़कने के समान है। निस्सन्देह वे अनेक 'बड़े' कहे जाने और माने जाने वाले उन लोगों से अधिक ईमानदार, सच्चे और परिश्रमी हैं, जो बैठे-बैठे चालाकी या होशियारी से, 'सभ्य' माने जाने वाले उपायों से धनवान बन गये हैं।

इस सम्बन्ध में एक सुप्रसिद्ध अंगरेज न्यायाधीश सर एडवर्ड पेरी के विचार मनन करने योग्य हैं। आप चौतीस वर्ष तक जज रहे थे, इससे आप के अनुभव की गहराई का अनुमान हो सकता है। आप का कथन है कि "दीवानी या माल सम्बन्धी हमारे कानून को देखो तो मालूम होगा की उससे बढ़ कर कोई बुराई और बर्बर कानूनी पद्धति न होगी, जिस

द्वारा हम जेलों का भय दिखा कर गरीबों से धन चूसते हैं ।.....ऋण के लिए जेल का दंड देना, न केवल दासता का चिन्ह है, वरन् वास्तविक रूप में यह दासता इस समय प्रचलित है, जिस के द्वारा उस समाज का पतन हो रहा है, जिसने वैसे कानून की आज्ञा दी है ।'.....यदि महाजन को अपना ऋण वापिस नहीं मिलता तो फिर उसका उद्देश्य हो जाता है, बदला लेना । जो लोग कुछ धनी या अच्छी हालत में हैं, उन्हें ऋण के लिए कारावास-दंड नहीं भुगतना पड़ता, क्योंकि दिवालिया-अदालत से मित्रता-पूर्वक बातचीत करने से भगड़ा तय हो जाता है । पर जो अत्यन्त गरीब और दरिद्र हैं, उन्हीं के लिए यह दंड भी है ।'.....ऋण के लिए कारावास दंड देना कानूनी डकैती और धोखा है ।”

आर्थिक विषमता का घातक प्रभाव—आज कल होने-वाले बहुत से अपराध ‘आर्थिक’ श्रेणी में आ सकते हैं । उनका दायित्व वर्तमान आर्थिक विषमता पर है । एक ओर एक लखपति या करोड़पति है, अथवा बड़ा जमींदार है, जो अपने राज-भवन में सब तरह के सुख-साधनों का उपभोग करता है, और दूसरी ओर सैकड़ों हजारों निर्धन असहाय व्यक्ति हैं, जिन्हें दिन-रात मेहनत करने, धूप और वर्षा, सर्दी और गर्मी सहते रहने पर भी अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भरने का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता । महलों के साथ भोपड़ियों का निर्वाह कैसे हो ! धनवानों के साथ कंगालों की गुजर किस तरह हो ! दोनों के संसर्ग से होनेवाली स्थिति बहुत चिन्तनीय है ।

इस प्रसंग में अमरीका के सुविख्यात वकील और लेखक क्लारेन्स डेरो का रुथन है—‘कुछ लोग पैसा होते हुए भी चोरी आदि करते हैं, वे दूर-दर्शी हैं । वे उस समय तक ठहरना पसन्द नहीं करते, जब उनके पास कुछ न रहे ।’ ‘जिस प्रकार अमीरों ने गरीबों को लूटने के लिए नये-नये ढंग कम्पनियों और कारखानों की सृष्टि की, उसी प्रकार गरीब आदमी बच्चे चुराने आदि के नये-नये ढंग के पेशे तलाश करने लगे ।’ उक्त विद्वान

की सम्मति है, और, यह कुछ अंश में ठीक है कि जुर्मों को मिटाने का उपाय यही है कि बड़े लोगों के विशेष अधिकार को नष्ट कर दिया जाय, जिससे सर्व-साधारण को जीवन-निर्वाह का मौका मिल सके, अमीरों और गरीबों का भेद-भाव मिटा दिया जाय। वर्तमान अवस्था में गरीब लोग परेशान हैं और अमीरों का सिर अमीरी से फिरजाता है। उन्हें धन के स्वामित्व से अपराध करने में उत्तेजना मिलती है, कारण कि उससे धन की अधिकाधिक लुब्धा सताने लगती है; व्यापार या महाजनी, बैंकिंग आदि के उच्च पदाधिकारियों को बेईमानी करने के अपरिमित अवसर मिलते हैं, और वे सोचते हैं कि धन से हमारे सब दुष्कृत्यों पर आवरण पड़ जायगा। इस प्रकार समाज में अपराधों को कम करने के लिए वतमान आर्थिक विषमता को हटाना बहुत आवश्यक है—गरीबों की दृष्टि से भी और अमीरों की दृष्टि से भी।

—:०:—

सतरहवाँ परिच्छेद

सामाजिक परिस्थिति

—:ॐ:—

सामाजिक वातावरण अपराध के उगने का क्षेत्र है।
अपराधी एक बीज-जन्तु है जो क्षेत्र पाने पर उग पड़ता है।

—‘चान्द’

सामाजिक परिस्थिति का अपराधों से क्या सम्बन्ध है, इसका विचार करने में हमें यह याद रखना आवश्यक है कि प्रत्येक समय में समाज-संगठन बहुत-कुछ उस समय की उत्पादन प्रणाली के अनुरूप होती है

हमारे सामाजिक रीति-रस्म, व्यवहार, विचार-धाराओं या संस्थाओं आदि के मूल में बहुधा आर्थिक कारण होते हैं। उदाहरण के लिए जब उत्पादन प्रणाली में कई-कई आदमियों, औरतों, और लड़कियों के इकट्ठे मिले-जुले श्रम की आवश्यकता होती थी, तो संयुक्त परिवार प्रथा का चलन था, ज्यों-ज्यों उत्पादन की ऐसी क्रियाएँ होने लगीं कि आदमी अलग-अलग उपार्जन करने लगा, त्यों-त्यों संयुक्त परिवार की प्रथा टूट गयी, और टूटती जा रही है।

इसी प्रकार समाज की अन्य बहुत सी प्रथाओं—बहुपतित्व, बहुपात्रित्व, बाल-विवाह आदि—का भी मूल कारण बहुत कुछ आर्थिक है। अस्तु, अब हम इस बात का विचार करते हैं कि सामाजिक परिस्थिति का अपराधों से कहाँ तक और किस प्रकार सम्बन्ध है।

सामाजिक परिस्थिति और अपराध—सामाजिक परिस्थिति अपराधों को घटाने वाली भी हो सकती है और बढ़ाने वाली भी। लोग हमें क्या कहेंगे—यह विचार जहाँ समाज की उन्नतावस्था में, आदमियों को बुरे कामों से बचाता है, प्राचीन रूढ़ियों और कुरीतियों के प्रचलित होने की दशा में, इससे आदमी तरह-तरह के दुष्कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं।

अधिकांश आदमियों के लिए समाज की परिस्थिति का प्रभाव ऐसा होता है, जैसा अनेक चीजों के लिये नमक की खान का। नमक के भंडार में पड़ कर उन चीजों के स्वाद विलुप्त हो जाते हैं, और वे नमकीन बन जाती हैं। इसी प्रकार प्रायः समाज से प्रभावित होने पर बहुत से आदमी बहुधा बिना-जाने समाज के गुण-दोषों को ग्रहण कर लेते हैं। अवश्य ही, महान् विभूतियों, महापुरुषों तथा विवेकवान सज्जनों आदि की बात अलग है, वे तो समाज की दशा और गति-विधि में आवश्यकता-नुसार संशोधन करने का कार्य किया करते हैं। अस्तु, साधारणतया यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने व्यवहार में उन गुणों तथा अवगुणों का परिचय दिया करता है, जिनकी उसे उसके घर वालों से तथा समाज से

प्रेरणा मिलती है। यदि एक मनुष्य हिंसक या निर्दयी है, और दूसरा संयमी, दयालु और प्रेमी है तो इस अन्तर का आधार बहुत-कुछ उनका वातावरण होता है। निदान, मनुष्य के अपराधों का उत्तरदायित्व बहुत कुछ उसके समाज पर आता है। शौकीन, नशे बाज़ और व्यभिचारी समाज में किसी साधारण व्यक्ति का संयमी 'और सतोगुणी रहना कठिन है।

समाज लोगों के अपराधी होने में (तथा उनके अपराध-निवारण में) प्रकट तथा गौण दोनों प्रकार से भाग लेता है। यह बात कुछ उदाहरणों पर विचार करने से अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी।

धन का आदर, और गुणों की अवहेलना करने वाला समाज—धनवान व्यक्ति को कुछ न कुछ आदर-सम्मान मिलना स्वाभाविक ही है, तथापि जब समाज में गुणों की अवहेलना करके धन को ही आदर का आधार बना दिया जाता है तो लोगों पर उसका बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए आज कल प्रायः सर्वत्र ही धन का बोल-बाला है। धनवान व्यक्तियों के सामाजिक कार्य, उनके, या उनकी सन्तान आदि के विवाह-शादी, सुगमता से हो जाते हैं। यही नहीं, उन्हें समाज में बैठने-उठने को अच्छा स्थान मिलता है, हर बात में उनकी पूछ और आवभगत होती है। इसका दुष्परिणाम स्पष्ट ही है। गरीब आदमी कृत्रिम जीवन बिताने वाले हो जाते हैं। वे आडम्बर-प्रिय बन जाते हैं। वे अपनी स्थिति को खूब बढ़ी-चढ़ी दिखाना आवश्यक समझते हैं। माहवारी आय तीस रुपए की है तो वे सां रुपए की प्रकट करते हैं! उन्हें अपनी 'ऊपर की आमदनी' की बात कहने में संकोच नहीं होता। अपने तई अधिक धनवान दिखाने के लिए उन्हें कुछ अनावश्यक खर्च बांध लेने होते हैं। वे कपड़ा बहुत बढ़िया पहिनेंगे, चाहे इस से उन्हें अपने भोजन-व्यय में कमी ही क्यों न करनी पड़े; कारण कि भोजन को तो कोई देखने नहीं जाता पर कपड़ा तो सब को दिखाई देता है। हाँ,

जब भोजन भी दूसरों के सामने करना हो. तो उस में भी खूब दिखावट करनी होगी, चाहे उससे स्वास्थ्य-हानि भले ही हो। अनेक आदमियों का पान-बीड़ी या चाय आदि का शौक ऐसे ही कारण से होता है। कहीं-कहीं आडम्बरप्रिय आदमी स्वयं जेवर पहनना या अपनी स्त्री और बच्चों को आभूषणों से सजित रखना भी अपना अनिवार्य कर्तव्य मानते हैं; विशेषतया सामाजिक अवसर पर तो उन्हें इसका बहुत ही ध्यान रहता है। अगर, अपनी सामर्थ्य न हो, तो मांगे हुए ही सही, पर आभूषण होना अवश्य चाहिये। उन लोगों को साधारण शारीरिक श्रम करने में भी लजा आती है। यदि उन्हें अपना हैंड-बैग भी थोड़ी दूर ले जाना हो तो कुली और मजदूर के बिना उनका काम नहीं चलेगा। गृहस्थी के मामूली कामों के लिए भी उन्हें नौकर चाहिए। इन बातों के उनका दिवाला निकलना और आर्थिक दृष्टि से उनकी दुर्दशा होना, और इसके फल-स्वरूप उनका विविध अपराध करना अवश्यम्भावी है।

विवाह-शादी के अपरिमित व्यय के कारण होने वाले

अपराध—कल्पना करो कि एक समाज में विवाह को अनिवार्य सा माना जाता है, तथा एक-एक आदमी के; एक के बाद दूसरा, और उसके बाद तीसरा, इस प्रकार कई-कई विवाह होने की भी रीति है। बूढ़े-बूढ़े आदमी भी विवाह करते हैं। ऐसे समाज में, यदि विवाह में अपरिमित द्रव्य खर्च होता है, तो उन लोगों की कठिनाइयां स्पष्ट हैं, जो धन-हीन हैं वे सोचते हैं कि अविवाहित रहने से समाज में उन्हें यथेष्ट आदर की दृष्टि से नहीं देखा जायगा। फिर, काम-लिप्सा का वातावरण भी उन्हें उत्तेजित करता है कि वे अपने कुंवारेपन को दूर करें। पर जब वे अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हैं तो उनके सम्मुख बड़ी विकट समस्या उपस्थित होती है। यदि वे श्रृण लेना चाहें तो उनकी, कुछ गिरवी या धरोहर रखने की क्षमता न होने के कारण, प्रथम तो उन्हें श्रृण मिलने की सम्भावना ही बहुत कम है। फिर, यदि संयोग से

ऋण ही मिल गया तो उसे चुकाने का उपाय क्या होगा; विशेषतया उस दशा में जब कि उस ऋण पर ब्याज चढ़ रहा हो, (विना ब्याज के ऋण मिलना तो प्रायः कठिन ही होता है) । विवाह होने पर गृहस्थ का खर्च बढ़ता ही जायगा, और यदि आमदनी का ढंग ठीक न बैठे तो ऋण-भार हलका होने की कोई आशा ही न होगी । बहुत सम्भव है कि यथा-शक्ति अपने ऋण को शीघ्र चुकाने का प्रयत्न करते हुए भी वे इसमें सफल न हों । ऐसी दशा में उनपर नालिश होती है, मुकदमा चलता है, और अन्ततः वे अपराधी माने जाकर जेल में भेजे जाते हैं । भला, कैद भुगत लेने से उनका क्या सुधार होगा ? अस्तु, उनके 'अपराधी' होने और जेल जाने का उत्तरदायित्व किस पर है ? क्या वह समाज सर्वथा दोष-मुक्त माना जा सकता है, जिसके वातावरण से बाध्य होकर उन्हें इस परिस्थिति में पड़ना पड़ा है ?

अच्छा, कल्पना करो, विवाह चाहने वाला कोई गरीब आदमी रुपया उधार लेने का विचार नहीं करता, परन्तु अन्य उपायों से 'पैसे वाला' बनना चाहता है । उसे कोई और रोजगार नहीं मिलता । वह सोचता है कि जुए, सट्टे, फाटके से, व्यापार में धोखा-धड़ी करने या अन्य छल-प्रपञ्चों से, कुछ आदमी जल्दी धनवान बन जाते हैं; क्या आश्चर्य, यदि मेरा भी भाग्य जाग जाय, और मैं भी बात की बात में धनवान हो जाऊँ ! ऐसी दशा में इस आदमी के, इन मार्गों से पैसा प्राप्त करने, अथवा यदि उसमें असफल रहे तो इसके और भी अधिक तबाह हो जाने का भार क्या समाज पर ही नहीं है ?

पुनः यदि ऐसा आदमी कोई ऐसी नौकरी स्वीकार करता है, जिसमें वेतन के अतिरिक्त 'ऊपर की आमदनी' बहुत होने की सम्भावना है, और वह भी प्रलोभन में पड़ कर रिश्वत, घूस, डाली, भेंट आदि खूब लेने लगता है तो इसके इस पतन का भार भी बहुत अंश में क्या समाज पर ही नहीं है ?

अन्य सामाजिक अपव्यय के दुष्परिणाम—विवाह के अतिरिक्त अन्य सामाजिक रीति-रस्मों में होने वाला अपव्यय भी मनुष्यों को विविध आर्थिक अपराध करने की प्रेरणा दिया करता है। उदाहरणवत् हिन्दू समाज के कुछ अंगों में ऐसी विविध प्रथाएँ हैं, जिनमें जाति-भोज तथा वस्त्राभूषण या नकद रुपया देने आदि में बहुत खर्च होता है। अधिकांश आमदमी साधारण आमदनी वाले होते हैं, उनसे ये रीति-भांति करते नहीं बनतीं। उन्हें समाज में उपालम्भ मिलता है, समय-समय पर अपमानित होना पड़ता है। यह देखकर कुछ दुर्बल-आत्मा सहज ही कर्तव्य-भ्रष्ट हो सकते हैं। समाज में अपनी मान-प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए वे बहुधा उचितानुचित के विचार को तिलांजलि दे देते हैं, और धन-प्राप्ति के कुछ कार्यों को बहुधा बुरा समझते हुए भी करने लगते हैं। कुछ लोगों के कन्या-विक्रय या वर-विक्रय आदि का रहस्य बहुत कुछ इसी बात में मिल सकता है।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि सामाजिक अपव्यय मनुष्य को नाना प्रकार के दुष्कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, और यह कहा जा सकता है कि मनुष्यों के इन दुष्कर्मों को करने का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ समाज पर है। समाज के सूत्रधारों तथा हितैषियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए, जिससे इस प्रकार के अपराधों का अवसर यथा-सम्भव न रहे, अथवा बहुत ही कम रहे।

सामाजिक प्रथाओं के कारण होनेवाले अपराध—

जिस समाज में बाल विवाह, बे-मेल विवाह या वृद्ध-विवाह आदि के कारण बाल-विधवाओं की खाली संख्या हो, और साथ ही विधवाओं को विवाह करने की अनुमति न हो, अथवा पुनर्विवाह करनेवाली विधवाओं को अपमान-जनक दृष्टि से देखा जाता हो, वहां लुका-छिपा व्यभिचार और भ्रूण-हत्या या गर्भपात होना अथवा स्त्रियों का भाग जाना या उनकी आत्म-हत्या होना अस्वाभाविक नहीं है; विशेषतया उस दशा में,

जब कि युवती विधवाएं देखती हैं कि उनकी उम्र वाली सखी सहेली आनन्द-प्रमोद में जीवन व्यतीत करती हैं, और जिन घरों में वह (विधवायें) रहती हैं, वहां का वातावरण भी कामोत्तेजक है।

हिन्दू समाज में विधवाएं—उपर्युक्त बातें यहां के हिन्दू समाज के लिए विशेष रूप से विचारणीय हैं। यद्यपि क्रमशः सुधार होता जा रहा है, तथापि अभी कई ऊंची समझी जाने वाली जातियों में प्रायः विधवाओं का मार्ग सब तरफ बन्द है। वे विवाह करती हैं तो धर्म की दुहाई दी जाती है। यदि वे स्वतंत्र रूप से अपना निर्वाह करने के लिए कुछ उद्योग-धन्धा या दस्तकारी सीखना चाहें तो कुल की मर्यादा आड़े आती है। ऐसी दशा में विधवाएं करें, तो क्या? भोजन-वस्त्र की शारीरिक आवश्यकताएँ उन्हें परेशान करती हैं, चहुँ ओर प्रलोभन उनके सामने होते हैं। समय-समय पर भोग-विलास की वासनाएँ उनके मन में उठती हैं, कीचड़ में पैर फिसलना स्वाभाविक ही है। पर, यदि उनके सन्तान होने की बात खुल जाय तो जाति-बहिष्कार आदि की नंगी तलवार उनकी गर्दन पर गिरने को तैयार है। यह सोचकर वे गर्भपात या नवजात शिशु को चुपचाप मार डालने की बात सोचती हैं। उनके इन अपराधों का दोषी कौन है? समाज।

एक मामला—उदाहरणार्थ यहाँ सामाजिक मासिक पत्र 'नवयुग' (कलकत्ता) की एक सम्पादकीय टिप्पणी की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—“.....पिछले छः मास से रमीबाई नाम की विधवा पर गर्भपात करने का, अथवा पैदा हुई लड़की को तालाब में डुबाकर मार डालने का, जो मामला चल रहा था, उसमें उस को एक वर्ष की सादी कैद और दो हजार रुपए जुर्माना, और, जिसे उसको गर्भ ठहराने का दोषी समझा गया है, उस मनीराम को दो वर्ष सख्त कैद और एक हजार रुपए जुर्माना हुआ है।—हम बहिन रमीबाई के प्रति हार्दिक समवेदना प्रगट करना चाहते हैं, क्योंकि यह सजा मिलने पर भी हम उसको

निरपराध मानते हैं, उसका दोष उसके माथे हरगिज नहीं है। हमारे लिखने का यह अर्थ नहीं है कि हम इस व्यभिचार को अपराध नहीं मानते हैं, पर इस अपराध के लिए मार्ग-भ्रष्ट विधवा बहनें दोषी नहीं हैं, किन्तु वह अन्धा समाज दोषी है, जो उनसे बलात् संयम करा कर भी ऐसे पापाचार न होने की महा-मूर्खता-पूर्ण आशा रखता है।” उपर्युक्त पंक्तियाँ समाज-सूत्रधारों के लिए तो विचारणीय हैं ही, हम आधुनिक दंड-विधान के समर्थकों का इस ओर यथेष्ट ध्यान आकर्षित करते हैं।

फैसले पर विचार—इस सम्बन्ध में जज साहब ने अपने फैसले में लिखा है—‘रमीबाई हिन्दू समाज के उस पाप की शिकार हुई है, जो विधवा स्त्री को बल-पूर्वक विधवा रहने के लिए मजबूर करता है, चाहे वह अपने आप को विधवा रखना चाहे या नहीं। उसके लिए यही दण्ड पर्याप्त होगा जो, उसे समाज और सोसायटी की ओर से शर्म या लज्जा के रूप में उठाना पड़ा है। इन सब बातों के कारण वह अदालत की ओर से दया और सहानुभूति के योग्य है। किन्तु साथ ही एक नन्हें बालक को उस की दयनीय अवस्था से बचा कर उसकी रक्षा करने का भार उसी पर था, इस बात को हमें अपने मन से निकाल न देना चाहिए।”

हम समझते हैं कि जज साहब यदि कानून में बंधे न होते तो उस बच्चे की हत्या के लिए भी समाज को ही दोषी ठहराते और रमीबाई को दंडित न करते। ऐसे मामलों में लोकलज्जा का प्रभाव ऐसा विकट होता है कि कोई कोई व्यक्ति अपने जीवन से भी हाथ धो बैठना पसन्द करता है, अपनी मृत्यु का स्वागत करता है; उससे दूसरों की—अपनी सन्तान की भी, रक्षा की क्या आशा की जाय ! फिर अपनी सन्तान को, चाहे वह कितनी ही छोटी आयु की क्यों न हो, जान से मार डालने में माता को कुछ हर्ष या सन्तोष तो हो नहीं सकता। वह जिस धर्म-संकट में पड़ कर यह क्रूर कर्म करने को उद्यत होती है, उसे समझने की क्षमता कानून में नहीं है; उसके लिए विवेकवान हृदय चाहिए।

दूसरा उदाहरण—अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। कुछ दिन की बात है कि उत्तर प्रदेश के रहने वाले उच्च हिन्दू कुल के एक कलर्क महाशय अपनी युवती कन्या और अन्य कुटुम्बी जनों के साथ लाहौर से लखनऊ जा रहे थे। इसी गाड़ी में एक मुसलमान युवक भी सवार हो गया। अम्बाला छावनी पर मुसाफिरो की भीड़ में मौका देखकर कन्या और मुसलमान युवक गाड़ी से उतर पड़े और वहां से लुधियाना चले गए। कन्या के माता पिता भी, पीछे पता लगाते हुए वहां पहुँचे और उन दोनों को गिरफ्तार कराया। लड़की ने कहा कि “मैं अपनी मर्जी से इस मुसलमान के साथ आई हूँ। मैं अपने पति के साथ रहना नहीं चाहती। क्यों ? वह अल्प-वयस्क बालक है, और मेरा यौवन है।”

कुछ विचार—कन्या को पतित कहने वाले, उसे जाति-च्युत करने वाले, और मुसलमान युवक को अपराधी ठहराने वाले तो बहुतेरे मिल सकते हैं। परन्तु क्या इस का उत्तरदायित्व उस समाज पर नहीं है जो, बे-मेल विवाहों की अनुमति देता है, जो वृद्ध के साथ तरुणी और बालक के साथ युवती कन्या का सम्बन्ध होने देकर व्यभिचार का मार्ग स्वयं प्रशस्त करता है ! क्या केवल समाज और राज्य से मिलने वाले दंड ऐसे अपराधों को रोक सकते हैं, जिनका वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में होना नितान्त स्वाभाविक और अनिवार्य है ?

अठारहवाँ परिच्छेद

राजनैतिक परिस्थिति

—:०:—

‘अत्याचारी शासन में जकड़े हुए व्यक्ति को अपने जीवन में आध्यात्मिक साधना की आकांक्षा को त्यागना होगा, अथवा उसे क्रान्तिकारी बन जाना पड़ेगा।’

—वर्नाड हाटन

राजनैतिक अपराध—जब राज्य-कार्य प्रजा प्रतिनिधियों द्वारा संचालित न होने से या उसमें सुयोग्य सेवकों का भाग न होने से जनता कष्ट पाती है, आदमी दिन भर मेहनत-मजदूरी करने पर भी अपना पेट नहीं भर सकते, सदीं गर्मी से अपनी रक्षा नहीं कर पाते, लज्जा-निवारण के लिए मामूली वस्त्र नहीं प्राप्त कर सकते, बूढ़े, स्त्रियां, और बच्चे व्याकुल रहते हैं, तो, ये बातें सहृदय भावुक व्यक्तियों से देखी नहीं जातीं। उनके हृदय में उथल-पुथल मच जाती है, वे वेचैन हो जाते हैं, वे अपने बन्धुओं की, अपनी प्यारी मातृ-भूमि की, अपने राष्ट्र-रूपी विशाल परिवार की दशा सुधारने के लिए चिन्तित हो जाते हैं, जैसे-बने उनको सुखी करना, यही उनके जीवन का प्रोग्राम बन जाता है,। इसके लिए अधिकारियों का अधिकार-मद दूर करने को कटिबद्ध हो जाते हैं; इस प्रकार वे ‘राजनैतिक अपराध’ करने लगते हैं।

राजनैतिक कैदी—इनका ‘अपराध’ केवल यह होता है कि ये तत्कालीन शासन-पद्धति को ऐसे उपायों से भी संशोधित करने का प्रयत्न करते हैं, जो उस समय गैर-कानूनी माने जाते हैं। ये जो-कुछ कार्य

करते हैं, अपने देश-बन्धुओं के सुख-दुख की चिन्ता से प्रेरित होकर करते हैं, परन्तु इस बात का अनियंत्रित राज्यों या पराधीन देशों में कुछ लिहाज नहीं किया जाता। वहाँ ये शत्रु समझे जाते हैं। इनसे बेईमान, चोर, डकैतों और हत्यारों जैसा बर्ताव किया जाता है।

राजनैतिक अपराधियों का कार्य जनता की हित-कामना के भाव से होता है, उनके अपने स्वार्थ के वास्ते नहीं। इसलिए सर्व-साधारण की, प्रत्यक्ष या गौण रूप से, इनके साथ सहानुभूति होती है। इन्हें दंड पाता देख कर उनकी इनके प्रति समवेदना का भाव बढ़ता है, और राज्य जनता की सहानुभूति से वंचित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि अन्य अपराधियों की अपेक्षा, राजनैतिक अपराधियों को दंड देना राज्य के लिए और भी अधिक हानिकर तथा अपराधियों को बढ़ाने में सहायक होता है।

भगतसिंह फांसी नाटक—गत २४ अप्रैल १९३१ को हिसार (पंजाब) में चार लड़कों ने निश्चय किया कि भगतसिंह आदि की फांसी का नाटक खेला जाय। एक लड़का भगतसिंह बना, दूसरा राजगुरु और तीसरा सुखदेव बना। चौथा लड़का अंगरेज अफसर बना। उसके हुक्म से भगतसिंह को फांसी देने के लिए गले में कपड़ा बांध कर पेड़ में लटका दिया गया। कुछ देर बाद उसके प्राण निकल गए। अन्य दो लड़के भी फांसी पर चढ़ने को तैयार थे। पर इतने में ही एक कांग्रेस कार्यकर्ता आ निकले। उन्होंने बाकी लड़कों को फांसी पर चढ़ने से रोक दिया। इस घटना पर तनिक विचार करें। लड़कों को स्वभाव से खेल-तमाशे पसन्द होते हैं। उनका स्वभाव नकल करने का होता है। उन दिनों भगतसिंह आदि की ख्याति देश-व्यापी थी। जिन लड़कों का ऊपर उल्लेख हुआ है उनके मन में ऐसी घटना की नकल करने की बात आ गई। उन्होंने इसके परिणाम पर विचार न किया होगा; किया भी होगा तो अपने स्वाभाविक साहस के कारण केवल दुष्परिणाम के भय से भयभीत होना उन्हें ठीकसा जचा। और, वे यह घातक नाटक कर बैठे। उनके विशेष सहन

(दुस्साहस ?) की सूचना तो इस बात से मिलती है कि उनके कार्य से उनमें से एक के प्राण-पखेरू उड़ गये, उस का शव उन के सामने उपस्थित है, फिर भी उन में से दो और लड़के (राजगुरु और सुखदेव बनने वाले) उस मार्ग पर चलने में तनिक संकोच नहीं करते ।

अस्तु, ऐसी स्थिति में अंगरेज अफसर बननेवाला व्यक्ति घातक मनोरंजन का दोषी अवश्य है पर वह हत्या का अपराधी नहीं माना जाना चाहिए, वास्तव में तो यह कहा जा सकता है कि ऐसी घटनाओं के लिए वह राजनीतिक परिस्थिति उत्तरदायी है, जिसमें लोकमत की अवहेलना करके एक देशभक्त को 'अपराधी' ठहराया और उसे दंड देकर और भी अधिक प्रतिष्ठित और अनुकरण-योग्य बनाया ।

म० गांधी हत्याकांड-अभिनय—इसी प्रकार की दूसरी घटना अप्रैल १९५० के आरम्भ में पाठकों के सामने आयी । पटना से २० मील दूरी पर स्थित सिलाव नामक ग्राम में कुछ लड़के 'गांधी हत्याकांड' का मूक अभिनय कर रहे थे । कहा जाता है कि कुछ चरवाहों के लड़कों ने गांव की सीमा पर यह नाटक खेला । 'गांधीजी' का अभिनय करनेवाले लड़के पर 'गोडसे' का अभिनय करनेवाले लड़के ने लाठी से भूठ-भूठ वार किया और इस तरह गांधी-हत्या का नाटक पूरा हुआ । पश्चात्, न्यायाधीश बने लड़के ने 'गोडसे' बने लड़के को मृत्यु-दंड दिया और वह वास्तव में फांसी पर चढ़ा दिया गया । इस घटना में न्यायाधीश बनने वाला लड़का पूर्वोक्त घटना में अंगरेज अफसर बनने वाले लड़के से अधिक दोषी नहीं । ऐसी घटनाएँ हमें सोचने की प्रेरणा देती हैं कि देश के कानून में प्राण-दंड की व्यवस्था होने से जनता पर उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव कैसा पड़ता है; इस दंड के बारे में खुलासा विचार हम पहले कर आए हैं ।

कानून और अपराध—वर्तमान परिस्थिति में राज्य के प्रत्येक कार्य में कानून का बोल-वाला रहता है, और अपराधियों को जेलर आदि

जिन लोगों से पाला पड़ता है, वे सब उस यंत्र के पुर्जे होते हैं, जो कानून की वास्तविक उपयोगिता का विचार न कर उसका रूढ़ि की भांति पालन करता है। यह स्मरण रहना चाहिए कि कानून कोई सर्वथा निर्दोष वस्तु नहीं है, और न उसकी उपयोगिता सदैव बनी रहती है। समाज का जीवन निरंतर बदलता रहता है, जो कानून, नियम या रीतियां उस की किसी विशेष स्थिति को लक्ष्य में रख कर प्रचलित की जाती हैं, वे कालान्तर में न केवल लाभकारी नहीं रहती; वरन् उनसे उलटी हानि होने लगती है। अतः कोई कानून कठोर और दृढ़ नहीं होना चाहिए, उस में आवश्यकतानुसार परिवर्तन और संशोधन होते रहने चाहिए; यही नहीं, उसके अनावश्यक हो जाने पर, उसे रद्द कर दिया जाना चाहिए।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

‘धर्म’ और अपराध

—:०:—

‘धर्म’ के नाम पर—धर्म का अर्थ वास्तव में कर्तव्य है। यह बहुत व्यापक है। इससे मनुष्य-समाज का बहुत हित-साधन होता है। परन्तु आज-कल सर्व-साधारण की बोलचाल में धर्म का अर्थ मत या मजहब, सम्प्रदाय आदि रह गया है। इस संकुचित अर्थ वाले ‘धर्म’ के नाम पर बहुधा अनिष्ट होता है। धार्मिक अन्ध-विश्वास, अविवेकता और कृत्रिमता लोगों को कर्तव्य-भ्रष्ट कर देती हैं। अनेक ‘धर्मात्मा’ कहे जाने-वाले व्यक्ति अपने जीवन के सुधार का, या अपने दीन-हीन बन्धुओं के हित-साधन का लक्ष्य नहीं रखते। द्रव्योपार्जन में ये झूठ-सच का विचार

नहीं करते, दया और सहानुभूति को ये तिलांजलि दे देते हैं। अनेक महन्तों, मठाधीशों, और 'अखाड़ेवालों' का बहुत सा समय और शक्ति मुकदमेवाजी आदि में नष्ट होती है। कितने ही सेठ साहुकार और 'पैसे-वाले' व्यक्ति सर्व-साधारण में 'बड़ आदमी' बने रहते हैं, और यथेष्ट आदर-मान पाते रहते हैं। यदि कदाचित् इन का कोई दुष्कृत्य प्रकाश में भी आ जाता है, तो एक तो दूसरे आदमी वैसे ही उसकी चर्चा नहीं करते, फिर ये भी ब्राह्मण-भोजन करा कर, तीर्थ-यात्रा करके मन्दिर आदि में कुछ द्रव्य लगा कर या दान आदि देकर उस पर सहज ही आवरण डाल देते हैं।

अनिष्टकारी प्रभाव—इस का समाज पर बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है। साधारण स्थिति के आदमी भी औरों की दृष्टि में धार्मिक बनने के लिए किसी न किसी प्रकार तीर्थयात्रा करने, ब्राह्मण-भोजन या अन्य दया-धर्म करने की योजना किया करते हैं। इसके वास्ते, उन्हें महीनों ही नहीं, कभी-कभी वर्षों तैयारी करनी पड़ती है। जैसे-जैसे पैसा संग्रह करना होता है, जिस में ये अनेक प्रकार से छल-कपट या धोखाधड़ी का व्यापार करते हैं। यदि हम धर्म को कुछ खास-खास समय की बाह्य क्रियाओं में सीमित न कर, उस के उच्च सिद्धान्तों को अपने जीवन में धारण करें, और अपने दैनिक व्यवहार को सुधारे तो संसार से कितने ही अपराधों का समूल निवारण हो जाय।

धर्म और सामाजिक कुरीतियाँ—संसार में समय-समय पर विविध धर्माचार्यों और नियम-निर्माताओं का शुभागमन होता है; वे अपनी प्रतिभा के अनुसार सर्व-साधारण के लिए मार्ग-दर्शक का कार्य करते हैं। उनके प्रति कृतज्ञता का भाव रखना उचित ही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि उनके आदेशों का उनके पीछे या उनके समय में ही, आंख मीच कर बिना बिचारे पालन किया जाय; आवश्यकता है कि प्रत्येक बात को भली भाँति सोच समझ कर, उसके देश-काल

का विचार करके, अमल में लाया जाय। उदाहरणवत् यदि हिन्दू समाज के ‘शास्त्र’ कहे जानेवाले किसी ग्रन्थ में यह उल्लेख है कि विवाह वाल्यावस्था में होना चाहिए, विधवा-विवाह वर्जित है, स्त्रियों को पर्दे में रहना चाहिये, स्त्रियों और शूद्रों को निम्न श्रेणी का समझना चाहिए और उन्हें शिक्षा-प्राप्ति का अवसर न देना चाहिए—तो हमें इन बातों को केवल इस आधार पर मान लेना उचित न होगा कि हमारे पूर्वजों ने इनका प्रतिपादन किया है, या यह बात ‘शास्त्र’ में लिखी है। हमें तो आधुनिक परिस्थिति का विचार रख कर प्रत्येक प्रश्न पर स्वतंत्र चिन्तन करना होगा; अन्यथा, अविवेकता-पूर्वक हर एक बात को मान लेने से हमारे शास्त्र, समाज में नाना प्रकार के अपराधों की सृष्टि और वृद्धि करने वाले होंगे।

धार्मिक ग्रन्थ-विश्वास और अपराध—संसार में ग्रन्थ-विश्वासों के कारण कितने ही अपराध होते रहते हैं। परन्तु कितने स्थानों के कानून में ऐसे अपराध करनेवाले को उसके उत्तरदायित्व से मुक्त रखने की व्यवस्था है? कुछ समय हुआ, स्वर्गाज्य (खंडवा) में दो घटनाएं प्रकाशित हुई थीं। पहली इस प्रकार है। एक संथाल को कुछ बीमारी थी। अपनी योग्यतानुसार दवादारु कर चुकने पर उसके दिमाग में यह बात आई कि उसकी बीमारी किसी देवी-देवता के कोप की वजह से है। देवता को प्रसन्न करने की गरज से वह अपने एक वर्ष के छोटे बच्चे को खेत में ले गया। उसने सिन्दूर-चर्चित ‘पेड’ देव और ‘पत्थर’ देव को हाथ जोड़े, नाक रगड़ी और प्रार्थना की कि “मेरा बलिदान स्वीकार कर मुझे रोग-मुक्त कर दीजिये।” उसने अपने बच्चे को फूलोंकी माला पहनाई और देवता का नाम लेकर उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। गांव में जाकर उसने बड़े-बूढ़ों को अपना किस्सा सुनाया। मनुष्य-वध के अपराध में, पुलिस ने उसको चालान कर दिया।

दूसरी घटना इस प्रकार है—एक स्त्री के दो बच्चे थे। उसका पति मर गया। कुछ दिनों पहले उक्त स्त्री के दोनों बच्चे भी मर चुके थे। स्त्री

के देवर के दिल में शक पैदा हुआ—यह 'डायन' है। अपने बच्चों को खा ही गई है, अब शायद मेरे बच्चों को भी खा जाय। उसने उस स्त्री के शरीर से 'डायन' को मार भगाने को ठानी। एक दिन उसके प्रहारों के कारण उक्त स्त्री मर गई। पुलिस ने इस संधाल को कैद कर लिया है।

ऐसे व्यक्तियों को दंड देने से कानूनी कार्यवाई अवश्य पूरी हो जात है, परन्तु क्या इससे अभीष्ट-सिद्धि होती है? क्या लोगों के अन्ध-विश्वासों को दूर करने का उपाय जेल है? क्या समाज या राज्य का इस दिशा में कुछ और कर्तव्य नहीं है?

धार्मिक असहिष्णुता और अपराध—यह तो हुई धार्मिक अन्ध विश्वासों के कारण होनेवाले अपराधों की बात। धार्मिक असहिष्णुता से भी संसार में अनेक भयंकर दुष्कृत्य किए गए हैं, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। भिन्न-भिन्न देशों में समय-समय पर विचार-स्वातंत्र्य का भयंकर विरोध हुआ है। जिन 'लोगों' ने प्रचलित विश्वासों के प्रतिकूल मत प्रकट किया, वे समाज और राज्य के लिए भयानक समझे गए। अनेक 'दयालु' और 'सज्जन' पुरुषों का भी यह मत रहा कि एक क्षेत्र (नगर या राज्य) भर के सब आदमियों की धार्मिक रीति-रस्में और आचार-व्यवहार एकसा होना चाहिए, और यदि इसमें कुछ अन्तर उपस्थित करने का प्रयत्न किया जायगा तो समस्त जनता को दैवी कोप, महामारी, अनावृष्टि या अतिवृष्टि आदि का फल भोगना पड़ेगा। ऐसी विचार-धारा के कारण, विशेषतया योरोपीय देशों के मध्यकालीन इतिहास के अनेक पृष्ठ रक्त-रंजित घटनाओं से परिपूर्ण हैं। सहस्रों स्त्री-पुरुषों पर भयंकर अत्याचार केवल इसलिए हुए कि वे अपने यहां के संगठित समाज के धर्म को नहीं मानते थे, और उनके विश्वास या विचार भिन्न थे। इन बेचारों के जान-माल पर तो बुरी बीती ही, इनके साथ इनके अबोध निर्दोष बाल-बच्चों को भी तलवारया खंजर के घाट उतारा गया, अथवा और भी निर्दयता के साथ यम-लोक पहुँचाया गया।

पिछली शताब्दियों में शिक्षा, साहित्य, तर्क और विज्ञान का अधिकाधिक प्रचार होने से लोगों के मन में नये विचारों का प्रवेश हुआ, धार्मिक असहिष्णुता का कमशः लोप हुआ, उदारता के भावों की वृद्धि हुई। इससे धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों का महत्व कम हुआ, है अब बहुत से भिन्न-भिन्न विचार वाले भी एक दूसरे के साथ प्रायः शान्तिपूर्वक रहते हैं; यही नहीं, अनेक आदमी अपने धर्म को भी तर्क की कसौटी पर कसते हैं, और दूसरों की आलोचना प्रत्यालोचना का सहर्ष स्वागत करते हैं।

तथापि अभी धार्मिक समभाव का यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है। प्रत्येक देश में थोड़े बहुत आदमी ऐसे होते हैं जो दूसरे धर्म वालों, तथा अपने ही धर्म के अन्य उपभेद माननेवालों को अपने से कम दर्जे का या अधम समझते हैं, जो अपने इष्ट देव या धार्मिक पुस्तक की आलोचना सम्बन्धी कोई बात सुनना सहन नहीं कर सकते। यहां तक कि कुछ की मनोवृत्ति तो ऐसी है कि वे अन्य धर्मों के अनुयाइयों को अपने धर्म में लाने के लिए लाल, बल या प्रलोभन आदि का उपयोग करते हैं। यही नहीं, कुछ आदमी तो ऐसे भी होते हैं कि यदि उनका वश चले तो दूसरे धर्म वालों का अस्तित्व मिटा कर इस पृथ्वी का भार हटा दें और अपने ‘धर्म-प्रेम’ की विज्ञप्ति करें।

नास्तिकता और अपराध—दुनिया में अधिकतर आदमी अपने आप को किसी-न-किसी धर्म का अनुयाई समझना और कहना पसन्द करते हैं; किसी भी धर्म को न मानने वालों अर्थात् नास्तिकों की संख्या बहुत कम है; हां, कुछ समय से उसमें वृद्धि हो रही है। साधारणतया लोगों का यह मत होता है कि नास्तिक बहुत अपराधी होते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि नास्तिकों में सब प्रकार के व्यक्ति होते हैं, और प्रायः धर्म का अनुदार और संकुचित अर्थ लेनेवालों से उनका जीवन बुरा नहीं है। अनेक नास्तिकों ने राज्य और समाज की उन्नति करने के हेतु ऐसे उत्तम विचार उपस्थित तथा प्रचारित किए हैं कि वे भिन्न-भिन्न

मत-मतान्तरों के अनुयाइयों से इस विषय में अच्छी टक्कर ले सकते हैं। उनका व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन इतना उच्च और पवित्र होता है कि दूसरों को सहसा विश्वास नहीं होगा।

भिन्न-भिन्न मतों के कट्टर आचार्य प्रायः जनता में शिक्षा-प्रचार के विरोधी होते हैं। वे धर्मग्रन्थों का सर्वसाधारण की भाषा में अनुवादिन होना यथाशक्ति रोक कर उन्हें मूल प्राचीन भाषाओं में रखने के पक्ष में होते हैं। उन्हें यह आशंका होती है कि यदि सर्वसाधारण इन ग्रन्थों का आशय समझने लगे तो फिर उनकी दृष्टि में हमारे प्रति इतनी भक्ति न रहेगी। वे यह चाहा करते हैं कि लोग विज्ञान, तर्क और बुद्धिवादसे जितनी दूर रहें, उतना अच्छा है, क्योंकि इससे अन्ध-विश्वासों की रक्षा होती रहेगी, जो उनके विचार से, उनके धर्म (मत) के मूलाधार हैं। इस विचार से कहना पड़ता है कि यह आवश्यक नहीं है कि नास्तिक आदमी औरों की अपेक्षा स्वयं अधिक अपराधी हों, या वे दूसरों के अपराधी बनने में अधिक सहायक होते हों; वरन् इतिहास, विशेषतया योरोपीय देशों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि नास्तिक उस पाप और अत्याचार से सर्वथा मुक्त रहे हैं जो 'धर्मात्मा' लोगों ने अपने-अपने मत-मतान्तर का प्रचार करके या सर्वसाधारण को अन्व-कूप में रख कर, किया है। कुछ विद्वानों की तो यह स्पष्ट सम्मति है, कि विविध धर्म (मत) संसार से अपराध कम करने में सर्वथा विफल रहे हैं, और अनेक आधुनिक धर्मात्माओं से नास्तिक कहीं अच्छे हैं, कहीं कम अपराधी हैं।

दूसरा पक्ष—परन्तु इस विषय का दूसरा पक्ष भी है। जो आदमी वास्तव में आस्तिक हैं, जो ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता और सर्व श्रेष्ठ न्याय आदि में विश्वास रखते हैं, उन्हें संसार की विविध समस्याओं और कठिनाइयों में धैर्य और आश्वासन की प्राप्ति होती है; और, वे जीवन को व्यापक रूप में समझने और अनुभव करने में समर्थ होते हैं। उदाहरणवत् वे सब मनुष्यों (एवं अन्य प्राणियों) को एक परम पिता

परमात्मा की सन्तान मानने से सब में भ्रातृ-भाव रखते हैं। उनमें जातीय, प्रान्तीय या राष्ट्रीय आदि संकुचित भावनाएं काम नहीं करती; वे यथा-सम्भव अन्तर्राष्ट्रीय मानव-हित-साधन करने में तत्पर होते हैं। पुनः सच्चा आस्तिक कभी लुक-छिप कर या छल-कपट से भी चोरी, डकैती, पर-स्त्री-गमन, या द्वेष मत्सरता आदि दुर्गणों को अपने हृदय में स्थान न देगा। चहुँ ओर की विघ्न-बाधाओं में भी उसे आन्तरिक शान्ति रहेगी। विविध रोग-शोक आदि में भी वह अपने कर्तव्य-पथ से विचलित न होगा, और क्योंकि वह ईश्वर की शक्ति को संसार का वास्तविक सूत्र-संचालक मानता है, इसलिए उसे न तो किसी कार्य की सफलता पर अत्यन्त अहंकार या मिथ्याभिमान होगा, और न किसी विफलता पर ही उसे निराशा का सामना करना पड़ेगा।

विशेष वक्तव्य—हाँ, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, यह बात उसी दशा में चरितार्थ होती है, जब आस्तिक वास्तव में आस्तिक हो; केवल कहने भर को, या दिखावे मात्र को, नहीं। जो आदमी घंटों पूजा-पाठ, हरि-स्मरण या कीर्तन आदि करके भी व्यवहार में लोगों से ईर्ष्या-द्वेष आदि का भाव रखते हैं, राम नाम की माला जपते-हुए भी, अथवा ‘पवित्र’ वस्त्र धारण किए हुए अपने स्वार्थपूर्ण विचारों को कार्य रूप में लाने की चिन्ता किया करते हैं, ईश्वर को सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान कहते हुए भी अदालतों में झूठी सच्ची देने में संकोच नहीं करते, अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार के छल-कपट, मिथ्या स्तुति, खुशामद, या रिश्तों आदि के व्यवहार में संकोच नहीं करते, और अपनी दुकानदारी या नौकरी आदि को चलाने के लिए अपने आस्तिकवाद को एक साधन बनाते हैं, वे वास्तव में आस्तिक नहीं हैं। ऐसे आस्तिकों से नास्तिक हजार दर्जे अच्छे हैं, जो अपने अपराधों या दुष्कृत्यों को छुपाने के लिए ‘धर्म’ या ईश्वर की आड़ नहीं लेते, और अपने स्वीकृत सिद्धान्तानुसार स्पष्ट अर्थात् खुला आचरण करते हैं।

अस्तु, यह कहा जा सकता है कि यद्यपि नास्तिकता का भाव रखने-वाले व्यक्ति सदाचारी और परोपकारी हो सकते हैं, और कुछ होते भी हैं, तथापि आस्तिकवाद हमें अपराधी होने से बचाने के लिए बहुत सहायक होता है; हाँ, यह आस्तिकवाद हमारे अन्तःकरण में पूर्ण रूप से हो। हम केवल कुछ खास अवसरों पर, या दिन-रात के कुछ खास-खास घंटों में ही अपनी आस्तिकता का प्रदर्शन करनेवाले न हों, ईश्वर-भक्ति सूचक कुछ विशेष क्रियाओं के सम्पादन-मात्र से संतुष्ट होने वाले न हों। हर घड़ी हमारे मन, वचन और कर्म से आस्तिकता का परिचय मिलता रहे, तभी हम स्वयं अपराध करने से बच सकते हैं, और अपने अन्य नागरिक वन्धुओं को अपराध करने से बचाने में महायक हो सकते हैं।

बीसवाँ परिच्छेद

सभ्यता और अपराध

—:०:—

सभ्यता से अपराधों का हास—प्राचीन काल में लोगों के पैरों की अंगुलियाँ, हाथ, दांत, जवड़ा, आदि ऐसे होते थे कि उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पेड़ों पर चढ़ने, वस्तुओं को छीनने भपटने, चीरने-फाड़ने आदि की सुविधा हो। अब हजारों लाखों वर्ष व्यतीत होने पर भी कुछ आदिमियों की शरीर-रचना ऐसी ही होती है। अब भी उन के शरीर पर बाल होते हैं तथा अब भी वे अपने प्राचीन पूर्वजों की भांति शरीर गोदने, सुस्ती में पड़े रहने, गंवारू भाषा बोलने,

लड़ने-भगड़ने, बदला लेने आदि की रुचि वाले दिखाई पड़ते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। ज्यों-ज्यों आमद-रफ्त के साधनों का विस्तार और उन्नति होगी, तथा संसार के विविध भागों के निवासियों में सम्पर्क बढ़ेगा, इन लोगों का रहन-सहन का ढंग बदलेगा और इन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पुराने तरीके काम में लाने की जरूरत न रहेगी फल-स्वरूप इन के शरीर की रचना में भी अन्तर हो जायगा। निदान, सभ्यता की वृद्धि से अपराधों का हास होता जायगा।

दूसरा पहलू—पर इसका दूसरा पहलू भी है। इसे समझने के लिए हमें जानना चाहिए कि यदि हमारी सभ्यता की प्रगति बहि-मुख न होकर आन्तरिक सुधार की ओर है, वह हमें सादा जीवन और उच्च विचार रखना सिखलाती है तो हम संसार के विविध प्रलोभनों से बहुत-कुछ बचे रह सकते हैं। इसके विपरीत, यदि हम ऐसी सभ्यता के पीछे बेतहाशा दौड़ रहे हैं, जो हमें दिन-रात रुपये-पैसे के लिए हाय-हाय करना सिखाती है, जो हमारा असन्तोष बढ़ाती रहती है, जो बत-लाती है कि जितनी हमारी आवश्यकताएं बढ़ेंगी, जितना ऐश्वर्य, वैभव तथा विलासिता का सामान हमारे पास अधिक होगा, जितना हम अपने ग्रन्थुओं से अधिक सम्पत्तिमान होंगे उतनी ही हमारी प्रतिष्ठा और नेक-नामी अधिक है, तो निश्चय ही हम जीवन-यात्रा में क्लिप्त-व्य-विमूढ़ होंगे, अपराधी बनेंगे।

आधुनिक सभ्यता—आधुनिक सभ्यता ने तार, डाक, टेली-फोन, रेडियो, मोटर, ट्राम, रेल, जहाज और वायुयान, सिनेमा-नाटक-घर और विशाल कल-कारखाने आदि अनेक ऐसे साधन प्रस्तुत कर दिए हैं, जिन से मनुष्य का बहुत कल्याण हो सकता है। पर आज-कल मनुष्य की स्थिति कैसी है? लोगों का स्वभाव, चरित्र और पारस्परिक वर्ताव कैसा है, और कैसा होता जा रहा है। आधुनिक सभ्यता ने प्राचीन

जाति-प्रथा को हटा कर मनुष्यों का एक भेद-भाव दूर करने का प्रयत्न किया है, तो काले-गोरे आदि का नवीन वर्ण-भेद स्थापित कर दिया है; साथ ही, पूंजीवाद का नया प्रवाह चला कर अमीर और गरीब में जमीन-आसमान का अन्तर कर दिया है। दास-प्रथा और बेगार का भी इसने केवल स्वरूप ही बदला है, उसका लोप नहीं किया है। दिन-रात कारखानों में पिसने वाले मजदूरों का जीवन प्राचीन काल के अनेक दासों से अच्छा कहाँ है ! उन्हें प्राचीन दासों की तरह रोटी कपड़ा नहीं मिलता, कुछ निर्धारित पैसे मिलते हैं, उनसे उनका निर्वाह हो या न हो। फिर इन में सदाचार, ईमानदारी आदि कैसे हो !

नगरों का प्रभाव—आधुनिक सभ्यता का एक कार्य जीवन की सरलता को लुप्त कर उसे अधिकाधिक पेचीदा, कृत्रिम और आडम्बरमय बनाना है। छोटे-छोटे ग्रामों को नष्ट करके बड़े-बड़े नगरों का निर्माण हो रहा है। प्रायः इन नगरों में कई प्रकार के पतन के मार्ग खुले हुए हैं। नित्य नये आश्रयहीन, सम्पत्ति-विहीन, अबोध नर-नारी चटक-मटक फैशन, और विलासरूपी नरक-कुड में गिरते रहें, तो क्या आश्चर्य !

बड़े-बड़े शहरों में लोगों की बड़ी भीड़ रहती है, इसका मन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, चंचलता तथा अशान्ति बढ़ती है। पुनः बहुत से निम्न श्रेणी के आदमी (अधिकांश में पुरुष), आजीविका आदि के लिए अकेले रहते हैं, इन पर परिवार, रिश्तेदारों, या विरादरी का कुछ नियंत्रण नहीं रहता। अपने ही जैसे निम्न श्रेणी के साथियों के संसर्ग-दोष से उनमें उच्छ्वलता और अनैतिकता आ जाती है। इनकी देख-भाल काफी नहीं हो सकती, ये जांच से सरलता-पूर्वक बच सकते हैं, क्योंकि घर-बार न होने से ये अपराध करके शीघ्र ही दूसरी जगह जा सकते हैं। प्रायः लोगों के निवास में जितनी अस्थिरता होती है, उतना ही उनकी अपराध-मूलक क्रियाएं अधिक होती हैं।

बड़े-बड़े नगरों में समाचार-पत्रों में अपराध-मूलक घटनाओं के विस्तृत और व्योरेदार विवरण छपते हैं, इसका कुछ मनुष्यों पर बहुत हानिकर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उदाहरणों में बड़ी शक्ति होती है। लोगों की भौड़ द्राग किए जाने वाले उपद्रव का एक मुख्य कारण उनकी अनुकरण शीलता होती है।

मयुक्तराज्य अमरीका के, कानून और विज्ञान के उन्नत और विकसित कहे जाने वाले रूप से सुसज्जित होने पर भी, वहाँ अपराधों की संख्या बहुत बढ़ी रहती है। इसका एक कारण यह है कि वहाँ कई संसार-प्रसिद्ध बड़े-बड़े नगर हैं, उनमें अमरीका के भिन्न-भिन्न कानूनों वाले विविध राज्यों तथा अन्य देशों के आदिमियों का आना-जाना बहुत रहता है, बहुत से आदिमी भिन्न-भिन्न आचार-विचार और रहन-सहन वाले होते हैं, उनकी संस्कृति पृथक्-पृथक् होती है, उनके पारस्परिक संसर्ग का परिणाम कानून-भंग होना स्वाभाविक ही है।

कल-कारखानों का प्रभाव—नगरों में वेश्या-वृत्ति कितनी बढ़ी हुई है, यह सब जानते हैं; हाँ इसके क्या कारण हैं, इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ सज्जन इसका मूल कारण आर्थिक समझते हैं, और एक सीमा तक यह है भी ! तथापि यह स्वीकार करना होगा कि मिलों और कारखानों पर भी इसका बहुत दायित्व है। जेन ऐडमस ने 'न्यू कान्शेन्स एंड एन एनशंट इविल' में लिखा है कि "मिल में काम करते-करते जो थकावट आती है, उससे न केवल शरीर ही खराब होता है, बल्कि प्रतिरोध का नैतिक बल ('मारल रेजिस्टेन्स') भी टूट जाता है। ज्यों-ज्यों हम यह जानते जायेंगे कि मन तथा स्नायु पर अति थकावट का क्या परिणाम होता है, त्यों-त्यों हमें विदित होगा कि नैतिक पतन का कारण यह अति थकावट ही है। कुछ खास मामलों में तो यह सम्वन्ध अभी से स्पष्ट है। अक्सर लड़कियाँ अपनी परिस्थिति को साफ करती हुई कहती पायी गयी हैं, 'मैं इतनी थक गई थी कि मुझे परवाह

ही नहीं थी कि क्या हो रहा है, मैं थक कर चूर होगई थी और मैं सभी बातों से परेशान हो चुकी थी' 'मैं यकान के मारे मर रही थी और यों ही उसके साथ चली गयी ।'

कल-कारखानों में काम करने में अतिथकावट के अतिरिक्त निःसता का भी बड़ा दोष है, मजदूरों को तंग अस्वास्थ्य प्रद स्थानों में रहना पड़ता है, सत्संग और सांस्कृतिक उत्थान के साधनों का अभाव रहता है । इससे स्पष्ट है कि उत्पादन की यह प्रणाली कितनी हानिकर और पतनकारी है । यद्यपि इस पद्धति के दोष दूर करने का प्रयत्न हो रहा है, अभी अभीष्ट-सिद्धि बहुत दूर की बात है । निदान मिलों और कारखानों की वृद्धि रोकने तथा दस्तकारी और छोटे उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देने की बड़ी आवश्यकता है ।

धन की अत्यन्त प्रतिष्ठा—इस सभ्यता की एक विशेषता यह है—धन को अत्यधिक प्रतिष्ठा दिया जाना । प्रायः देखने में आता है कि आज-कल पैसे वालों का ही आदर-मान किया जाता है, सभा-सोसायटियों में, पञ्चायतों में, वार्षिक या अन्य उत्सवों में विशेष पद देने के लिए धनवानों की ही खोज की जाती है । इसलिए बहुत से आदमी जैसे-बने, पैसे-वाले बनने की सोचते हैं । खाद्य-पदार्थों में मिलावट करना, असली की जगह नकली या घटिया चीजें बेचना, अथवा डाली भेंट या रिश्तत लेना, आदि अपराध ऐसी दशा में अनिवार्य हैं ।

बच्चों की चोरी—यों तो भारतवर्ष में भी बच्चों की चोरी कभी-कभी होती रहती है, परन्तु अधिक सभ्यतामिमानी देशों में यह कृत्य खूब बढ़ा-चढ़ा है । सन् १९३२ ई० की बात है, कि अमरीका में प्रसिद्ध उड़ाके लिंडबर्ग का १५—१६ मास का शिशु किसी आदमी ने उड़ा दिया । अपराध प्रवृत्ति को नापने के यंत्रों से सुसज्जित और खोज के काम में बहुत कुशल अमरीकी पुलिस उसका कुछ पता न लगा सकी, उधर डाकुओं ने तार और पत्रों द्वारा चना दी कि यदि लिंडबर्ग हमें पचास

हजार डालर की रकम न दे जायेंगे तो बच्चे को हानि पहुँचाई जायगी। दो माह बाद समाचार मिला कि उक्त शिशु का कथित मृत शरीर पिता के घर के अहाते में पत्तियों के ढेर के नीचे पाया गया। ऐसी घटनाएं वहाँ सन् १९३१ में २७६ हुई थीं, अब तो और तरक्की का जमाना है !

आत्म-हत्या—वर्तमान काल में आत्म-हत्या की घटनाएं निरंतर बढ़ती जा रही हैं। मनोविज्ञान विशेषज्ञों का मत है कि इसका एक मुख्य कारण आधुनिक सभ्यता ही है। इस सम्बन्ध में श्री० डाक्टर रविप्रताप सिंह जी श्रीनेत ने लिखा है कि यह स्वयं सिद्ध है कि सभ्यता से साथ-साथ मनुष्य में भावुकता तथा भावों की कोमलता और अज्ञानता की वृद्धि हो रही है। इसके सिवाय समाज का एक ऐसा वातावरण तैयार हो रहा है, जिसमें शान्तिमय जीवन का सर्वथा अभाव सा दीख रहा है। इस में पड़ कर भावुक मनुष्य छोटी-छोटी महत्वहीन बातों से प्रभावित हो जाता है, और उन्हें आत्म-सम्मान के प्रतिकूल समझ, विव्रित सा हो जाता है। उसे उस समय अपना-अपना आत्म-सम्मान रखने के लिए केवल एक ही उपयुक्त राह दीखती है, है—आत्म-हत्या।

‘सभ्यता पूर्वक’ धनापहरण—आधुनिक सभ्यता में धनतृष्णा पर मानो कोई अंकुश ही नहीं रहा है, समाज घुड़दौड़, सट्टा-फाटका आदि धन-वृद्धि के अनेक ऐसे कार्यों को वैध या उचित समझता है, जो नैतिक दृष्टि से घृणास्पद और दूषित माने जाने चाहिए। डा० ग्रिफ़थ ने ठीक ही लिखा है कि धन चूसने वाला और माल चुराने वाला दोनों चोर हैं। कानून उसे चोर मानता है जो स्वीकृत न होने वाले उपायों से अपनी स्वाभाविक धन-तृष्णा की वृद्धि करता है। किन्तु यथार्थ चोर वह है जो समाज को जितना देता है उससे अधिक समाज से ले लेता है। समाज अपनी नीति न माननेवाले चोर को तो दंड देता है, परन्तु अपने को हड़पने वाले चोर को नहीं; छोटी-मोटी साधारण चोरियाँ करनेवाले चोरों

को जेल में रख कर उनसे चक्की पिसवाता है, लेकिन लाखों की लूट करने वाले डाकुओं को वह दंडित नहीं करता ।

अपराध-वर्द्धक मनोरंजन—आधुनिक सभ्यता में मनोरंजन के नित्य नये साधन उपस्थित किए जा रहे हैं । नाटकधरों के अतिरिक्त आज-कल सिनेमा-घरों की खूब वृद्धि हो रही है । जो मनोरंजन ज्ञान-वर्द्धन का, या सद्भावनाओं की जागृति का कार्य करे, वह तो समाज के लिए बहुत उपयोगी और आवश्यक ही है । कुछ सीमा तक ऐसा मनोरंजन भी क्षम्य है, जो चाहे उपर्युक्त कार्य न करे, परन्तु हो निर्दोष । परन्तु मनोरंजन के जिन साधनों से समाज के शील या सदाचार की भावनाओं को आघात पहुँचता है, जिन से लोगों के मन में चंचलता, कामुकता, उत्तेजना आदि बढ़ती है, वह कदापि वांछनीय नहीं है ।

आज कल सिनेमाओं में जो चित्रपट दिखाए जाते हैं, उनके चुम्बन, आलिंगन आदि दृश्यों से अधिकांश युवक और युवतियों के हृदयों पर बहुत अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है, और दुराचार या व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है । कुछ विदेशी चित्रपटों में चोरी, डकैती, नारी-हरण या शिशु-हरण आदि अपराधों के दृश्य इस शैली से दिखाए जाते हैं कि दर्शकों में कपट, छल, दुस्साहस आदि का भाव उत्पन्न होता है और वे इन अपराधों को करने के लिए नये आधुनिक और विकसित उपाय काम में लाने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं ।

अस्तु, वर्तमान सभ्यता कई प्रकार के अपराधों के साधनों की वृद्धि कर रही है, समाज-सूत्रधारों को चाहिए कि इसके इस रूप में पर्याप्त परिवर्तन करें, और यह अपने दुर्गणों से मुक्त होकर केवल लोक-हित साधन करने वाली ही रह जाय ।

तीसरा खंड

अपराध निवारण



बीसवाँ परिच्छेद

घर का कार्य

—:०:—

“माता के हाथ में इस अमूल्य सम्पत्ति (सन्तान) को सौंप कर देश और समाज यह आशा रखते हैं कि वह उसे लालन-पालन के साथ इस योग्य बना दे कि वह देश और जाति के गौरव को बढ़ाने लायक हो सके। लेकिन यह तब ही हो सकता है जब कि उसकी शिशु एवं किशोर-अवस्था में बहुत सावधानी के साथ देख-रेख की जाय।”

—ओंकारलाल बापना

अपराध-निवारण का कार्य—कहावत प्रसिद्ध है कि रोगों की चिकित्सा की अपेक्षा उनका निवारण कहीं अच्छा है। जहाँ तक हो सके अपराध रोग के कीटाणु उत्पन्न न हों, लोगों की यह प्रवृत्ति ही न हो कि वे समाज-विरोधी कार्य किया करें। अपराध-निवारण का कार्य अपने-अपने

क्षेत्र में निम्नलिखित व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा विशेष रूप से करना चाहिए:—

१—घर में, माता-पिता आदि द्वारा,

२—शिक्षा-संस्था में, शिक्षकों द्वारा,

३—समाज द्वारा, और

४—राज्य द्वारा ।

इस परिच्छेद में, घरों में होने वाले कार्य के विषय में लिखते हैं ।

माता-पिता का उत्तरदायित्व—मनुष्य की आदतों का अंकुर प्रायः बचपन में पड़ जाता है । इस लिए बालक बालिकाओं की शिक्षा का आरम्भ से ही यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए । ‘शिक्षा’ का उपयोग व्यापक अर्थ में कर रहे हैं । बच्चों के प्रथम आचार्य या शिक्षक उनके माता-पिता ही होते हैं । बहुधा उनकी थोड़ी सी असावधानी या अज्ञान से बालक में बहुत बुरे संस्कार पड़ जाते हैं । यदि वे समझते हैं कि ताड़ना के भय से हम बच्चों को सन्मार्ग पर ले आएंगे तो इसमें उन की बहुत भूल होती है । मां-बाप के क्रोध को देख कर बच्चों को क्रोध करने की आदत पड़ जाती है जब माता-पिता उन्हें या उनके सामने किसी और को, अप-शब्द कहते हैं तो बालकों को भी आगे-पीछे ऐसा करने की प्रेरणा हो जाती है । मारपीट से बच्चों के दीठ और निर्लज होने की आशंका होती है । बच्चों को प्रेम और सहानुभूति द्वारा कहीं अच्छी और स्थाई शिक्षा दी जा सकती है, परन्तु इन बातों की भी अति न होनी चाहिए । इनका उपयोग बहुत सोच-समझ कर, उचित मात्रा में किया जाना चाहिए । निदान माता-पिता को अपने प्रत्येक कार्य या व्यवहार में जो वे बच्चों के सम्मुख या उनके सम्बन्ध में करें, बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है ।

कुछ विचारणीय उदाहरण—कल्पना करो कि एक बालक गिर पड़ता है, और रोना-सा मुंह बनाता है । सम्भव है कि यदि कोई उसकी ओर ध्यान न दे तो बच्चा भी अपने गिरने की बात आई-गई कर

दे । परन्तु प्रायः देखने में आता है कि माता इस ओर ध्यान दे ही देती है । वह उसे गिर जाने के 'अपराध' में मारती है, और क्रोध में उस पर भुंभलाती हुई, कहती है, "अंधा है, आंख फूट गयी, देख कर नहीं चलता" इत्यादि । बच्चा, गिर जाने में कहां तक दोषी है, और माता के इस व्यवहार का उस पर क्या प्रभाव होगा । इसे पाठक स्वयं विचार लें ।

अनेक दशाओं में बच्चे के गिर पड़ने पर माता-पिता उस वस्तु पर अपना क्रोध उतारने लगते हैं, जिसकी ठोकर खाकर बच्चा गिरा है । यदि बच्चे को दरवाजे की ठोकर लगी है तो उस दरवाजे को पीटा जाता है, और तो जमीन को ही दोषी बताया जाता है और उसे ही मारा जाता है । मनोविज्ञान न जानने वाले 'माता-पिता' यह नहीं सोचते कि उनके वैसा करने से वे बच्चे में बदला लेने का भाव भर रहे हैं । क्या आश्चर्य है, यदि वे बच्चे जिन पर ऐसी घटनाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, भविष्य में 'आंख के बदले आंख' और 'दांत के बदले दांत' लेने की नीति का समर्थन करनेवाले बनें । अवश्य ही वे अपराधियों को दंड देना उचित समझा करेंगे और वह भी बदला लेने के भाव से । ऐसी शिक्षा से—चाहे यह अनजान में ही क्यों न हो—बच्चों के बड़े होने पर उनके दयालु और परोपकारी होने की विशेष आशा न की जानी चाहिए ।

अब एक दूसरा उदाहरण लें । बालक का पिता बीड़ी पीता है । बालक इस बात को देखता है, वरन् कभी-कभी अपने पिता के लिए बीड़ी बाजार से मोल लाकर भी देता है; क्या उसमें बीड़ी पीने की इच्छा होना अस्वाभाविक है ? यदि वह अपनी उम्र वाले अन्य बालकों को भी बीड़ी पीते देखे तो उसकी इच्छा और भी बढ़ सकती है । शायद वह पहले चोरी-चोरी पिता की फैंकी हुई झूठी बीड़ियों से काम चला ले । परन्तु यह सर्वथा सम्भव है कि कालान्तर में वह झूठी बीड़ी पसन्द न करने या उनसे यथेष्ट तृप्ति न होने के कारण अपने लिए अलग बीड़ी प्राप्त करने का प्रयत्न करे, अथवा बीड़ी खरीदने के वास्ते पैसा लेना चाहे । और, यदि

इस काम में सहज सफलता न हो, माता-पिता उसे फटकारें और पैसे न दें, तो वह क्रमशः चोरी भी करने लगे। धीरे-धीरे यह भी हो सकता है कि वह केवल धीड़ियों के लिए पैसा चुराने वाला न रहकर, अपनी अन्य आवश्यकताओं के वास्ते रूपए, आदि विपुल धन पर हाथ साफ करने वाला नामी चोर, घोर अपराधी, बन जाय। इस उदाहरण में, बालक को यद्यपि माता-पिता ने जान-बूझ कर अपराधी नहीं बनाया है, तथापि यह है तो उनकी ही असावधानी का परिणाम।

माता-पिता बालक की संगति का ध्यान रखें—माता-पिता को यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि बालक अपने साथ भी भलाई-बुराई की कुछ प्रवृत्तियाँ लाता है, तथापि उसके चहुँओर उत्तम वातावरण रखने से उसकी बुरी प्रवृत्तियों को दवाने और अच्छी को उभारने या बढ़ाने में बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। वातावरण को अच्छा या बुरा बनाने में माता-पिता के अतिरिक्त कुटुम्ब के अन्य आदमियों का ही नहीं, नौकर-चाकर तथा पास-पड़ोस के अन्य व्यक्तियों का भी बड़ा भाग रहता है। बहुधा ऐसा होता है कि बालक में ऐसे गुण या दुर्गुण आ जाते हैं, जिनका माता पिता में सर्वथा अभाव होता है; इसका कारण अधिकांश में बालक की संगति होती है। अतः माता-पिता को इस विषय में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त, जब बालक पाठशाला में भरती कर दिया जाय, उस समय भी उन्हें इस विषय में सर्वदा निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए। बालकों की यह अवस्था बहुत नाजुक होती है, इसमें भला-बुरा प्रभाव बहुत जल्दी पड़ जाता है। बहुत से आदमियों में, कई एक आदतों का अंकुर इसी अवस्था में जमता है। इसलिए माता-पिता यह ध्यान रखें कि उनका बालक कैसे लड़कों के साथ पढ़ने जाता है, छुट्टी होने पर वह सीधा घर आता है; या नहीं, यदि कुछ देरी में आता है, या खेलने जाता है, तो यह समय कैसे बालकों में व्यतीत होता है। यही नहीं,

बालक पुस्तकें पढ़ने लग जाय तो यह देखते रखने की आवश्यकता है कि वह कैसी पुस्तकें पढ़ता है। उसे समय पर कुछ ऐसी पुस्तकों के नाम बता दिए जाने चाहिए तथा ऐसी कथा-कहानियाँ आदि सुनाई जानी चाहिएँ, जिनसे उसके आदर्श अच्छे हों, उसमें उच्च, सात्विक आकांक्षाओं और भावनाओं का उदय हो।

एक शिक्षाप्रद कहानी—कहते हैं, कि एक बालक अपना अनाथ, गरीब मां का एकलौता लड़का था, बहुत लाड़-चाव से पला था। वह कुछ बड़ा हुआ, तो पास-पड़ोस के घर से एक दिन दो एक मिर्च ले आया। मां ने उसे कुछ न कहा, वरन् उसके कृत्य पर प्रसन्नता प्रकट की। धीरे-धीरे बालक औरों की आँख बचा कर घर में तरह-तरह की आवश्यक और उपयोगी वस्तुएँ लाता रहा। गरीब मां को इस प्रकार कुछ आमदनी-सी होने लग गई। उसने कभी लड़के को समझाने-बुझाने की चेष्टा न की; पीछे जब कभी दूसरे आदमी उसके लड़के की चोरी की शिकायतें लेकर आते तो भी बजाय इसके कि मां अपने लड़के को कुछ कहती-सुनती, वह उसका पक्ष लेती और शिकायत लानेवालों से लड़ने लगती।

लड़का अपने चोरी के कृत्य में क्रमशः उन्नति करता गया। यहां तक कि स्कूल में जाने पर, वहाँ भी उसने अपना क्रम जारी रखा, कभी किसी की दवात, कभी कलम या किताब आदि ले आता। उसके शिक्षक ने उसे मारा-फटकारा तो माँ उससे लड़ने लगी। शिक्षक ने तंग आकर लड़के को स्कूल से निकाल दिया ! अब उसे आवारा फिरने का और भी अधिक अवसर मिला। उसने चोरों और बदमाशों से, उनका पेशा सीख लिया। वह चोरी और लूट के नये कृत्य करने लगा। माँ अपने बेटे के साहस से, तथा उसके द्वारा प्राप्त धन से प्रसन्न होती। अन्ततः वह एक बार डाका डालते पकड़ा गया। उस पर हत्या का अपराध प्रमाणित हुआ और उसके लिए फांसी का दंड निर्धारित किया गया। उससे यह

पूछे जाने पर कि उसकी अन्तिम इच्छा क्या है, उसने अपनी माँ से मिलना चाहा। माँ से अन्तिम भेंट करते समय उसने माँ की नाक काट ली और कहा, 'अभागी मां ! यदि तू मुझे आरम्भ से कुमार्ग पर जाने से रोक देती, तो मैं सबके सामने यों अपमानित न होता और मुझे अपने प्राणों से हाथ न धोने पड़ते।''

बालकों के संरक्षक ध्यान दें—सम्भव है कि जो बालक संसार के सामने अपराधी के रूप में प्रगट होते हैं, वे बहुधा यह न सोचें कि उनके अपराधी बनाने में उनके संरक्षकों का थोड़ा-बहुत, प्रत्यक्ष या परोक्ष भाग अवश्य है; और यह भी ठीक है कि वे उनकी उस प्रकार नाक नहीं काटते, जैसा कि ऊपर बताया गया है। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि जब कोई आदमी दुष्कृत्य करता और अपमानित होता है तो उसके माता-पिता ही नहीं, संगी-सम्बन्धियों और मित्रों आदि तक की 'नक-कटी' (बदनामी) होती है। अच्छा हो, प्रत्येक व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझे और समय रहते इस बात का प्रयत्न करे जिस बालक का उससे सम्बन्ध है, वह अच्छा मानसिक भोजन; कम से कम अपराधी, और उत्तम से उत्तम नागरिक बने।

अमरीका का अनुभव—भारतवर्ष में अपराधियों के सम्बन्ध में जो अंक आदि मिलते हैं वह ऐसे नहीं होते, जिनसे अपराध-निवारण की इच्छा रखने वालों को यथेष्ट विचार-सामग्री प्राप्त हो। अमरीका में उनकी जांच-पड़ताल बहुत अच्छी तरह होती है, राज्य के अतिरिक्त अनेक व्यक्ति भी इस विषय में आवश्यक तथा उपयोगी रिपोर्ट और पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं। ऐसे एक सज्जन डाक्टर हीली हैं। आपका कथन है ❀ कि जिन युवक अपराधियों के विषय में उन्होंने जांच की, उन में से

प्रति चौदह में से केवल एक के घर वालों की परिस्थिति ऐसी थी, जिसमें युवकों की दशा मानसिक और नैतिक दृष्टि से स्वास्थ्यप्रद रह सके। उनके विचार से उचित 'गृहस्थ' वह है जहाँ माता-पिता का परस्पर में अच्छा सम्बन्ध हो, कोई अति व्यसनी न हो, जिनमें सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक की भावना न हो, जो क्रोधी या भगड़ालू न हों, अति दरिद्र न हों, जो बच्चों की ओर उपेक्षा करने वाले न हों, जो सच्चरित्र और संयमी हों, नशा करनेवाले न हों, और जिनमें यथेष्ट अनुशासन हो।

युवक अपराधियों में से चालीस फी सदी ऐसे घरों से आए थे जहाँ अनुशासन का सर्वथा अभाव था। अपराध के लिए जो बात अकेली ही सबसे अधिक उत्तरदायी है, वह है कुसंगति। ३,००० युवक अपराधियों के सम्बन्ध में विचार किया गया, और यह मालूम हुआ कि ६२ फी सदी कुसंगति के कारण ही अपराधी हुए; यदि अच्छी संगति मिलती तो वे कदापि अपराधी न बनते। यदि माता-पिता अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करने वाले होते तो वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न होने देते, वे मालूम करते रहते कि उनके बच्चे क्या करते हैं और कैसे मित्रों में रहते हैं। हाँ, हमारा मतलब उनके, पहरेदारी या चौकसी करने से नहीं है। यह जानने के लिए कि बच्चा क्या करता है, और कैसे वातावरण में समय व्यतीत करता है, यह आवश्यक नहीं है कि माता-पिता जासूस हो जायँ। अस्तु, जब तक माता-पिता बच्चों की ओर पर्याप्त ध्यान न देंगे, और अपने उत्तरदायित्व का भार स्कूलों, सामाजिक संस्थाओं और अदालतों आदि पर डालते रहेंगे, अपराध-निवारण के कार्य में विशेष सफलता नहीं मिलेगी, और अदालतों के विचारार्थ बहु-संख्यक मामले बने रहा करेंगे।

ये बातें कितनी अनुभव-सूचक हैं, माता-पिता को इन पर ध्यान देना चाहिए, और स्वयं उनको बहुत अच्छा होना चाहिए।

इकीसवाँ परिच्छेद

शिक्षा का प्रभाव

—:०:—

शिक्षा और अपराध—प्रायः यह समझा जाता है कि शिक्षा अपराधों को घटाने का काम करती है, एक स्कूल खोलना एक जेलखाने को बन्द करने का सर्वोत्तम उपाय है। परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। बात यह है कि यदि शिक्षा हमें सदाचारी, स्वावलम्बी और संयमी रहना, समाज के प्रति यथेष्ट कर्तव्य पालन करना, सामाजिक जीवन में अपना उत्तरदायित्व समझना सिखाती है तो अवश्य ही वह हमारा कल्याण करने वाली होगी, वह देश में अपराधों की संख्या और मात्रा घटाने में सहायक होगी। परन्तु यदि इसके विपरीत, शिक्षा पाकर हम शौकीन, आडम्बर-प्रिय हो जाते हैं या विलासिता का जीवन बिताने लगते हैं, शारीरिक श्रम की महत्ता नहीं समझते, अपनी आवश्यकताएं बढ़ा लेते हैं, यहाँ तक कि हम भरसक प्रयत्न करने पर भी उनकी पूर्ति नहीं कर पाते, तो ऐसी शिक्षा का परिणाम यही होगा कि हममें तरह-तरह के छल-कपट, धोखेबाजी, बेइमानी आदि दुर्गुण आ घुसेंगे; और, अनपढ़ों की अपेक्षा हम कहीं अधिक मार्ग-भ्रष्ट होंगे। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होगा कि जहाँ वे लोग चोरी आदि की क्रियाएँ प्रत्यक्ष और 'गंवारू' ढंग से किया करते हैं, हम 'सभ्यता-पूर्वक' करेंगे। हम भूठ तो बोलेंगे, परन्तु जहाँ तक हमारी मानसिक योग्यता की पहुँच है, हम इस बात का भरसक प्रयत्न करेंगे कि हमारी भूठ किसी की 'पकड़' में न आसके। हमारे शब्दों का प्रयोग चातुर्य और वाग्जाल पूर्ण होगा।

यद्यपि कुछ शिक्षा प्राप्त करना समाज और राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है, यह नहीं होना चाहिए कि शिक्षा से हमें केवल कुछ लिखना-पढ़ना आ जाय; कुछ वस्तुओं, नगरों, घटनाओं आदि के नाम कंठस्थ कर लिए जायं, जो केवल सानसिक व्यायाम का काम दें, और वह भी आवश्यकता से कहीं अधिक । शिक्षा-संस्थाएं व्यापक अर्थ में शिक्षा देनेवाली होनी चाहियें, उनसे हमारी शारीरिक और मानसिक के अतिरिक्त नैतिक उन्नति भी यथेष्ट हो । हम पाशविक प्रवृत्तियों का नियंत्रण करने वाले हों, हम न केवल स्वयं अपराध न करें, वरन् दूसरों को भी सन्मार्ग पर लाने में सहायक हों ।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति—क्या हमारी अधुनिक शिक्षा इस प्रकार की है ? क्या हम शिक्षा पाकर अधिक सदाचारी, संयमी, त्यागशील, परोपकारी बनते हैं ? क्या शिक्षित व्यक्ति केवल इस आधार पर सद्गुण सम्पन्न कहे जा सकते हैं, कि उनमें से जेलों में कम पहुँचते हैं ? जब हम किसी वकील, डाक्टर, मुन्शी, मोहर्रिर आदि शिक्षित व्यक्ति को लोभी लालची, रिश्वतखोर आदि देखते हैं, तो मन में अनायास यह बात आ जाती है कि शिक्षा पाकर ये अधिक दुर्गुणी हुए हैं; सम्भव था कि यदि ये शिक्षित न होते तो इनमें इतने दोष न होते, अथवा कम-से-कम इतनी मात्रा में, या इस ढंग के न होते । बात यह है कि आधुनिक शिक्षा बुद्धि-विकास पर आवश्यकता से अधिक जोर देती है^१ । और, बुद्धि स्वयं कोई अच्छी चीज नहीं है; यह तो एक शक्ति मात्र है, जिसके द्वारा अच्छे कार्य में सहायता मिल सकती है तो बुरे काम भी अधिक संख्या में, तथा अधिक सफाई और सफलता से हो सकते हैं ।

शिक्षा-प्रचारकों के ध्यान देने की बात—इसलिए किसी व्यक्ति को केवल इस बात से संतुष्ट न हो जाना चाहिए कि उसके नगर या देश में शिक्षा-संस्थाओं की, और उनमें शिक्षा पानेवाले बालक बालिकाओं की, संख्या बढ़ रही है, अथवा शिक्षा-कार्य में होनेवाले व्यय

की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। अन्यान्य बातों की तरह शिक्षा सम्बन्धी अङ्क और रिपोर्ट भी बहुधा धोखा देने वाली हो सकती हैं। यदि शिक्षा-संस्थाओं के लिए बड़े-बड़े भवन बनाने और अन्य टीप-टाप में खूब खर्च होने लग गया तो इसमें राष्ट्र के अभिमान करने योग्य कोई बात नहीं; हो सकती है, यह अपव्यय हो, जिसके न किए जाने से दूसरा हितकर कार्य हो जाता। नहीं, यदि सौ की जगह डेढ़ सौ संस्थाएं हो गईं, दस हजार की जगह पन्द्रह हजार विद्यार्थियों के नाम रजिस्टर में दर्ज हो गए, अथवा एक विद्यार्थी की पाठ्य पुस्तकों का औसत वजन सेर भर की जगह दो सेर हो गया तो भी इसमें उन्नति की क्या बात है! मुख्य विचारणीय विषय तो यह होना चाहिए कि पढ़-लिख कर जो युवक इन संस्थाओं से निकलते हैं, वे कितने निर्दोष, सदाचारी, और समाज-सेवी होते हैं; अथवा, एक लड़का जिसे कुछ समय स्कूल में रहने का सुअवसर मिला है, वह अपनी उम्र के दूसरे लड़के से सामाजिक जीवन में कितना अधिक योग्य प्रमाणित होता है।

वर्तमान अवस्था में शिक्षकों का विशेष उत्तरदायित्व—

अनेक स्थानों में बालकों की शिक्षा का जो आधार-भूत कार्य घरों में से हो जाना चाहिए, वह वहां नहीं होता। मां-बाप अपने अपने कार्य-भार से दबे होने या अन्य कारणों से बालकों की उपेक्षा करते हैं; वे उन्हें अपने पास से हटाने के लिए स्कूलों में भेज देते हैं। इस दशा में बालकों के सम्बन्ध में शिक्षकों का दायित्व और अधिक हो जाता है। उनका कार्य विद्यार्थियों को स्कूल के पांच-छः घंटों में विविध पाठ्य विषय पढ़ा देने से ही पूरा नहीं हो जाता। उन्हें इस बात की ओर समुचित ध्यान देना चाहिए कि उनके पास पढ़नेवाला विद्यार्थी स्कूल के घंटों के अतिरिक्त दूसरे समय में क्या करता है, किनके साथ रहता है, क्या खेलता है, उसकी कैसी रुचि, स्वभाव और आदतें हैं। निदान, अध्यापक को अपने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का यथेष्ट अध्ययन करते रहना चाहिए; जिससे उसमें किसी प्रकार

का विकार प्रवेश न करने पाए। अच्छा हो, यदि अध्यापक समय-समय पर विद्यार्थियों के संरक्षकों से मिलता रहे, और अध्यापक और संरक्षक दोनों अपने-अपने ढंग से विद्यार्थियों की उन्नति का प्रयत्न करें।

यह कहा जा सकता है कि आजकल एक-एक अध्यापक कई-कई कक्षाओं को विविध विषय पढ़ाता है; और, इस प्रकार कोई अध्यापक अपने सब विद्यार्थियों से यथेष्ट रूप में परिचय प्राप्त नहीं कर सकता। इसका उपाय, जैसा कि कुछ स्थानों में हो भी रहा है, यह है कि चाहे जितने अध्यापक किसी कक्षा को क्यों न पढ़ावें, प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थियों का एक शिक्षक से विशेष सम्बन्ध रहे। कक्षा-अध्यापक ('क्लास टीचर') कहने से उसका ही बोध हो; और वह उस कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत रूप से जानने, समझने, और सन्मार्ग पर रखने का विशेष रूप से प्रयत्न करता रहे। [इसके लिए अध्यापकों को उचित पुरस्कार आदि दिया जाना चाहिए।]

शिक्षा-प्रणाली और शारीरिक दंड—इस प्रकार शिक्षा-पद्धति के सुधार की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक राज्य में इसके लिए यथेष्ट धन खर्च किया जाना चाहिए। कई बातें ऐसी भी हैं, जिनमें धन का प्रश्न उपस्थित नहीं होता; तनिक नवीन दृष्टि-कोण से देखने की आवश्यकता होती है। उदाहरणवत् बहुत से आदमी समझते हैं कि बालकों को जितनी ताड़ना दी जाय, जितना उनकी डांट-डपट की जाय, जितना उनसे कम बोला जाय और उन पर अधिक आतक जमाया जाय, उतना ही अच्छा। वे लोग बात-बात में बेंत, थप्पड़ और घूसों के प्रयोग के पक्ष में होते हैं और समय-समय पर नवीन दंडों का आविष्कार करते रहते हैं। लड़का स्कूल में देर से आया तो दंड, उसके कपड़े मैले हैं तो दंड, उसके पास आवश्यक पुस्तकें आदि पाठ्य सामग्री नहीं है, तो दंड। यह नहीं सोचा जाता कि इन बातों में, वास्तव में लड़के का दोष है या नहीं, और यदि है तो कितना। फिर, यह तो और भी दूर की बात रही कि इन

दंडों से बालकों का कुछ सुधार होगा या नहीं । इस व्यवहार से विद्यार्थी मास्टर को एक भयंकर, प्रेम-शून्य प्रबन्धक समझने लगते हैं ।

मनोविज्ञान की स्पष्ट सूचना है कि भय से बुद्धि का विकास नहीं होता, बालकों को कुछ बातें कंठस्थ भले ही कराई जा सकें, परन्तु वे उनके ज्ञान का सम्यग्-अङ्ग नहीं बन सकतीं । इसके विपरीत, प्रेम द्वारा जो शिक्षा मिलती है, वह आसानी से ग्रहण की जाती है, और अधिक समय तक अपना प्रभाव बनाए रखती है उसकी जल्दी विस्मृति नहीं होती । शिक्षकों को ये बातें निरंतर ध्यान में रखने की जरूरत है । उन्हें अपनी वाणी व्यवहार और आदर्श से बालकों को सच्चरित्र, कर्तव्य-परायण, परोपकारी और सेवा-भाव-युक्त बनाना चाहिए । वास्तव में जो अध्यापक बात-बात में बालकों को धमकाता, डराता या दंड देता है, वह इस बात का जीता-जागता सबूत देता है कि उसके पास तर्क, प्रेम आदि अन्य आवश्यक साधनों का दिवाला निकला हुआ है, और वह इस योग्य नहीं है कि बालक जैसे सुकुमार यंत्र उसको निश्चिन्तता पूर्वक सौंपे जा सकें ।

विद्यार्थियों की प्रतिष्ठा—भारतवर्ष आदि बहुत देशों में विद्यार्थियों की कुछ मान-प्रतिष्ठा नहीं होती । खेद है कि बिना परिश्रम उपार्जित पैत्रिक धन के स्वामी बने हुएों की, दान धर्म पर मौज उड़ाने वालों की, चाहे जैसे उपायों से पूँजीयति बने हुए व्यक्तियों की तो इतनी इज्जत हो, और भावी नागरिक जिन पर देश का भविष्य निर्भर है, कुछ आदर-सम्मान के अधिकारी न समझे जायँ । जिन बालकों को घरों में माँ-बाप फिड़कते रहे, और जिन पर स्कूलों में मास्टर्स की सदैव भुक्कुटि चढ़ी रहै, वे बड़े होकर आत्म-सम्मान के भाव से प्रायः शून्य हों, तो क्या आश्चर्य !

सभ्य और समझदार आदमी या राष्ट्र ऐसा नहीं होने देते । वे अपने हानि-लाभ का विचार करके दूरदर्शिता से काम लेते हैं । उदाहरणवत् दूसरे महायुद्ध से पहले जर्मनी में किसी अभियोग के कारण विद्यार्थी साधारण न्यायालय में विचारार्थ उपस्थित नहीं किए जाते थे । अभियोग को

यूनिवर्सिटी के अधिकारियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। वे उचित न्याय कर अपराधी को 'दंड' देते थे। इस बात का सम्यग् ध्यान रखा जाता था, इस दंड से विद्यार्थी को कोई कष्ट न हो; और उसे अपने रोजमर्रा के साधारण कार्यों और मनोरंजन आदि में भी कोई असुविधा न हो। अपराधी अपने दंड-काल में भी दूसरों की सहानुभूति और सहायता का पूर्णतः अधिकारी होता था। फिर उसकी अप्रतिष्ठा तो हो ही कैसे सकती थी ! क्या सभी शिक्षा प्रेमी इस विषय पर यथेष्ट ध्यान देंगे ?

उत्तरदायित्व द्वारा चरित्र-निर्माण—बहुधा हमें नटखट और शरारती लड़कों से वास्ता पड़ता है, परन्तु उनके लिए हमारे पास क्या होता है ? जुर्माना, बेंत की सजा, और अन्त में उसका स्कूल की दुनिया से कालापानी। इन बातों से उसका सुधार नहीं होता, अन्ततः हम अपनी पराजय चाहे जैसी छिपाएँ, वह सबके सामने आकर रहती है। क्या ही उत्तम हो, यदि ऐसे विद्यार्थी की प्रकृतिका ठीक अध्ययन करके उसे कोई ऐसे उत्तरदायित्व का कार्य क्रमशः सौंपा जाय जो उसे रुचिकर हो। कहा है कि स्वाधीनता ही मनुष्य को स्वाधीनता के योग्य बनाती है। जो आदमी यह समझते हैं कि उत्तरदायित्व के योग्य हुए बिना किसी को कोई महत्वपूर्ण कार्य न सौंपा जाय, वह भ्रम में हैं। उनकी धारणा ऐसी ही है कि तैरना आने से पूर्व किसी को पानी में न घुसने दिया जाय। अस्तु, यदि सोच-समझकर नटखट लड़कों में कुछ उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न कर दिया जाय, तो उनका विलक्षण कायाकल्प होने की सम्भावना है। जिन पाठकों ने लार्ड क्लाइव आदि का जीवन-चरित्र देखा हो, उन्हें यह तत्व समझाने की विशेष आवश्यकता नहीं।

प्रौढ़ शिक्षा और अपराध-निवारण—अपराध-निवारण की ओर प्रारम्भिक शिक्षा के समय से ही ध्यान रखा जाना चाहिए; और प्रौढ़ शिक्षा के समय भी इसकी विस्मृति न होनी चाहिए। कालिजों और महाविद्यालयों के शिक्षक विद्यार्थियों के मस्तिष्क में कुछ गहन विषयों की

बातें भर देने मात्र से संतुष्ट न हों। यदि उन संस्थाओं से डिप्लोमा या डिग्री प्राप्त किए हुए आदमी सच्चरित्रता, स्वार्थ-त्याग, और सेवा-भाव आदि में औरों के लिए अच्छा आदर्श नहीं रखते, तो शिक्षकों के लिए यह अप्रयश की बात है।

पुनः यह भी कहाँ तक ठीक है कि इन विद्वान शिक्षकों का कार्य-क्षेत्र एक निर्धारित संस्था में ही परिमित रहे ? क्या सार्वजनिक जीवन में, सर्व-साधारण को उनसे कुछ लाभ न उठाने देना चाहिए। यदि ये वास्तव में उच्च विचार और आदर्श चरित्र व्यवहार वाले हैं; जैसा कि इन्हें होना चाहिए, तो उनकी सेवा और सहयोग से, उनके लेखों तथा सार्वजनिक भाषणों आदि से, नगर-निवासियों को अपना जीवन सुधारने का अवसर क्यों नहीं दिया जाना चाहिए ! प्रत्येक शिक्षा-संस्था अपना निर्दिष्ट कार्य करने के अतिरिक्त, नागरिक जीवन को उन्नत करने का ध्यान रखे, तो राष्ट्रीय की अपराध-निवारण की समस्या सहज ही हल होने लगे।

धर्म और विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा—‘धर्म’ वास्तव में किसे कहा जाना चाहिए, इस विषय में हम अपना विचार पहले प्रकट कर चुके हैं। वर्तमान काल में शिक्षा-संस्थाओं में या तो धार्मिक शिक्षा दी ही नहीं जाती, अथवा यदि दी जाती है, तो प्रायः ऐसी होती है, जिसे ‘धार्मिक शिक्षा’ मानने से ‘धर्म’ का अर्थ अत्यन्त संकुचित, और अनुदार हो जाता है।

“धर्म और अपराध” शीर्षक परिच्छेद में हम जो विचार व्यक्त कर आए हैं, उनसे स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक या मत-मतान्तर का भेद-भाव बढ़ानेवाली, अथवा धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वास या परम्परागत रूढ़ियों में श्रद्धा उत्पन्न करनेवाली शिक्षा तो सर्वथा त्याज्य है। परन्तु ऐसे नैतिक और आध्यात्मिक विचार प्रदान करनेवाली शिक्षा की बहुल आवश्यकता है जो विविध धर्मों में सर्वमान्य, और समस्त मनुष्यों के लिए समान रूप से उपयोगी और हितकर हो। विद्यार्थियों को यह भली

भांति हृदयंगम कराया जाना चाहिए कि सब मनुष्य (एवं अन्य प्राणी) एक परम पिता की सन्तान हैं, सब परस्पर में भाई-बन्धु हैं, किसी एक की चोरी करना, या किसी को मारना, या अन्य हानि पहुँचाना वास्तव में अपने आपको हानि पहुँचाना है। दूसरों की उन्नति करने में हमारा भी विकास और उत्थान है।

यदि प्रत्येक देश के नागरिकों को युवावस्था में उपर्युक्त भावों की यथेष्ट-शिद्दा मिल जाय तो संसार में सुख-शान्ति कितनी अधिक हो, अपराधों की कितनी कमी हो जाय ! एक मुसलिम युवक को यह शिद्दा मिलनी चाहिए कि हिन्दू पासी, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि भी उसके भाई-बन्धु हैं; वह अपने व्यवहार में इस ज्ञान का परिचय देगा, तभी वह धार्मिक मुसलमान है। एक अङ्गरेज या जर्मन को यह हृदयंगम कराया जाना चाहिए कि उसके भ्रातृ-भाव का क्षेत्र इङ्गलैंड या जर्मनी के निवासियों तक परिमित रहना अत्यन्त अज्ञान और मूर्खता की बात है। गौर-वर्ण-जातियों के मनुष्यों को जानना चाहिए कि काले और पीले आदमियों को उत्पन्न करने वाला परमात्मा कोई दूसरा नहीं, वही है, जिसे वे (गौर-वर्ण मनुष्य) परम पिता कहते हैं; भले ही भिन्न-भिन्न जातियों में परमात्मा के अथवा उसके अवतारों या पीर-पैगम्बरों के नाम जुदा-जुदा क्यों न हों। फिर हिन्दू और मुसलमानों का, या इङ्गलैंड और जर्मनी आदि का वैर-विरोध क्यों ? इन जाति-गत या राष्ट्रीय लड़ाइयों का अन्त होना चाहिए। हमारा बन्धुत्व चुद्र सीमाओं में न रह कर विशाल मानव परिवार तक विस्तृत होना चाहिए। अस्तु धर्म और विश्वबन्धुत्व की ऐसी शिद्दा की, प्रत्येक देश के गांव-गांव और नगर-भगर में, समुचित व्यवस्था हो, तो हम यह दावे के साथ कह सकते हैं, कि अपराधी संसार का विलक्षण कायाकल्प हो जाय; अपराध-निवारण में अभूत-पूर्व सफलता मिले।

बाइसवाँ परिच्छेद

समाज का कर्तव्य

—:—

‘बड़े आदमी ऐसे उत्तेजक कार्य करें ही क्यों, जिनका छोटों पर बुरा प्रभाव पड़े और वे बहक कर अपराध करने को मजबूर हो जायँ ? वे लोग त्याग और सादगी का ऐसा जीवन क्यों न बिताएँ जो स्वयं उनके लिए और उनके पड़ोसियों तथा नौकर-चाकरों के लिए एक निष्पाप और कल्याणकारि आदर्श उपस्थित कर सके ।’

समाज का रीति-रस्म सम्बन्धी कर्तव्य—हम पहले बता आए हैं कि मनुष्य बहुत से अपराध अपनी सामाजिक परिस्थिति के कारण किया करते हैं, समाज को चाहिए कि उन मूल कारणों को दूर करे, जिनसे अपराध होने अनिवार्य हैं । उसे समय-समय पर प्रचलित रीति-रस्मों की जांच करनी चाहिए और जहाँ कोई बात नागरिकों को किसी प्रकार के अपराध की प्रेरणा करनेवाली मालूम हो उसका तुरन्त सुधार और संशोधन करना चाहिए । उदाहरणवत् समाज-सूत्रधारों को स्मरण रखना चाहिए कि साधारणतया विवाह-योग्य आयु के प्रत्येक पुरुष को स्त्री की, तथा स्त्री को पुरुष की आवश्यकता होती है । इस लिए किसी व्यक्ति के मार्ग में कोई अनुचित आर्थिक, या अन्य प्रकार की रीति-रस्म सम्बन्धी बाधा उपस्थित न की जानी चाहिए । यही नहीं, समाज इतने भागों में विभक्त न होना चाहिए कि विवाह के लिए कन्या या वर के निर्वाचन का क्षेत्र अत्यन्त परिमित हो जाय, और बे-मेल, इच्छा या रुचि विरुद्ध

विवाहों से भावी गृहस्थों का जीवन संकटमय हो जाय । समाज का उद्देश्य अपने व्यक्तियों का हित-साधन करना है । उसे चाहिए कि उनकी विविध आवश्यकताओं को मर्यादा में रखते हुए उनकी पूर्ति में सहायक हो, जिससे लोगों को अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए अपराध न करने पड़ें ।

अनाथ बालकों के लिए सहायक संस्थाएँ—यह स्पष्ट है कि निर्धन, अनाथ लावारिस शरणार्थी बच्चों के बड़े होने पर अपराधी बनने की बहुत सम्भावना रहती है । अतः ऐसी व्यवस्था रहने की आवश्यकता है कि ये बच्चे प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों के पास, उनके निरीक्षण में रहें, इन्हें अच्छा शिक्षण मिले, और इनकी यथेष्ट नैतिक उन्नति भी हो । इन बालकों के अभिभावक इनकी प्रकृति आदि का समुचित अध्ययन करें, और इनमें उच्च भावनाओं का विकास करने के लिए इनके सामने अच्छे-अच्छे उदाहरण रखें, इन्हें स्वावलम्बन का उपदेश और शिक्षा दें । यह कार्य त्याग और परिश्रम चाहता है, परन्तु प्रत्येक समाज में खोजने पर कुछ व्यक्ति लोक-सेवा के ऐसे कार्य का भार लेते-बाले मिल सकते हैं । पश्चात्य देशों में इसका कई स्थानों पर प्रयोग किया जा रहा है, और वह पर्याप्त रूप से सफल भी हुआ है । भारतवर्ष में भी जहाँ-तहाँ अनाथालय हैं । आवश्यकता है कि उनके कार्यकर्ता मनोविज्ञान-वेत्ता तथा सेवा-भाव-सम्पन्न हों । वे यह अच्छी तरह जानते हों, तथा अपने इस ज्ञान से संस्था को लाभ पहुँचाते हों, कि किस बालक की ओर कितना और किस प्रकार ध्यान देने से वह अच्छा नागरिक बन सकेगा ।

निर्धन आदिमियों के लिए संस्थाएँ—बालिगों तथा बड़ी उम्र के आदिमियों में से कुछ पर कभी-कभी ऐसा संकट आ जाता है जब वे बेकार तथा साधन-हीन हो जाते हैं, उनके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए द्रव्य नहीं होता, और कोई मित्र, पड़ोसी या रिश्तेदार उनका सहायक नहीं होता । यदि समय पर इन्हें कुछ आश्रय न मिले तो ये अपराध-मार्ग में सहज ही अग्रसर हो जायेंगे । समाज को चाहिए कि

ऐसे व्यक्तियों के लिए भी समुचित व्यवस्था करे। उनके रहने के स्थान तथा भोजनादि का प्रबन्ध हो। उनके लिए काम सिखाने वाली या उनसे काम लेकर उनके यथेष्ट निर्वाह की योजना करनेवाली संस्थाएं होनी चाहिए, जिन्हें राज्य की ओर से भी यथेष्ट प्रोत्साहन तथा आर्थिक सहायता मिले। इन संस्थाओं में जाति-पांति या स्थानादि का भेद-भाव न रखा जाय; केवल यह लक्ष्य रखा जाय कि जिस व्यक्ति को जितनी सहायता की आवश्यकता है, उतनी ही उसको मिलती है, उसका दुरुपयोग तो नहीं होता।

बड़े नगरों में प्रायः ऐसे निर्धन आदमियों का भी जाना-आना लगा रहता है, जिनका वहाँ अपना घर नहीं होता, और बहुधा कोई परिचित व्यक्ति भी नहीं होता। इनके लिए समाज की ओर से खानालय, विश्रामालय अल्प मूल्य पर भोजन देने वाले होटल आदि पर्याप्त संख्या में होने चाहिए, जिससे ये लोग ख्वाहमखाह अपराधी बनने को मजबूर न हों।

सामाजिक व्यवहार; जाति-वहिष्कार—यहाँ पर उस व्यवहार का भी विचार कर लेना आवश्यक है, जो समाज अपराधियों के साथ किया करता है। हिन्दुओं में बहुधा जब कोई आदमी ऐसा कार्य करता है, जो समाज की दृष्टि से अपराध हो, तो उसे कुछ दान-पुण्य करने, तीर्थयात्रा करने, अथवा ब्रह्मण-भोजन या जाति-भोज कराने या विरादरी को कुछ नकद रुपया देने का दंड दिया जाता है। धनी व्यक्ति इन बातों को सहज ही कर सकता है, निर्धन को बड़ी कठिनाई होती है। ❀ जब अपराधी इस दंड को अमान्य करता है, अथवा जब उसका अपराध बहुत भारी समझा जाता है, तो कुछ जाति-विरादरियों में उसे जाति-वहिष्कृत करने की रीति है। प्राचीन काल में जब कि समाज में आज-कल की सी विषमता नहीं थी, धनी-निर्धन सब समान दृष्टि से देखे जाते थे, और पंच-निष्पक्षता, उदारता

❀ ये सब बातें एक प्रकार से आर्थिक दंड या जुर्माने के ही विविध रूप हैं।

और त्याग-भाव से काम करनेवाले होते थे, वहिष्कार-नीति चाहे जैसी उपयोगी रही हो, परन्तु इस समय तो इसका भयंकर दुरुपयोग ही होता है। समाज का बलवानों और धनवानों पर कुछ जोर नहीं रह गया है, और वह अपना यह अस्त्र दुर्बलों और निर्धनों पर ही चलाता है, और आवश्यकता से कहीं अधिक चलाता है, अर्थात् एक अपराध में न केवल उस अपराध करने वाले को, वरन् उसके सगे-सम्बन्धियों रिश्तेदारों और मित्रों को भी दंडित करता है। इस प्रकार समाज के दंड-विधान का क्षेत्र बेहद बढ़ गया। इसका लक्ष्य लोगों के आचार-व्यवहार पर अनावश्यक बन्धन लगाना हो गया, यह विचार-स्वार्तत्र्य का घातक बन गया। अन्ततः अब यह अस्त्र कुंठित हो गया है। जनता पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है, आदमी इसकी ओर दुर्लक्ष्य करने लग गए हैं। जाति-वहिष्कृत व्यक्तियों से सहानुभूति रखने वालों का एक स्वतंत्र संगठन हो जाता है, जो क्रमशः बढ़ता जाता है।

इस लिए कई-एक सामाजिक संस्थाएं जाति-वहिष्कार की प्रथा उठा देने, और उसके स्थान पर व्यक्तिगत असहयोग का व्यवहार करने का निश्चय करती जा रही हैं। वहिष्कार का प्रयोग अपराधी का साथ देनेवालों पर भी होने से उससे समाज में दलबन्दी और अशान्ति होजाना अनिवार्य था, असहयोग में वह बात नहीं, यह तो अपराध करनेवाले व्यक्ति तक ही परिमित रहता है। इस में दंड की भावना कम और सुधार की अधिक है।

समाज और सभ्यता सम्बन्धी विचार—समाज को इस बात का भी विचार करते रहना चाहिए कि लोगों में किस प्रकार की भावनाएं काम कर रही हैं। धार्मिक या सामाजिक कहे जाने वाले उत्सवों में वेश्यावृत्त्य आदि कामोत्तेजक प्रथा होने से उसका युवक और युवतियों के कोमल हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता है ! समाज सोचे कि जब आदमी सामाजिक सम्मेलन तथा त्यौहारों में भंग (ठंडाई), अफीम, इत्र-फुल्लैल

अदि से आगन्तुकों का स्वागत-सत्कार करते हैं तो ऐसा न हो कि जिन लोगों को यहाँ ये चीजें दूसरों के आग्रह से लेनी होती हैं, और बिना मूल्य मिल जाती हैं, उनमें से कुछ को क्रमशः इनके सेवन की आदत ही पड़ जाय, और फिर ये अपने जीवन-रक्षक पदार्थों में भी कमी करके इन व्यसनों की पूर्ति का प्रयत्न करने लगें।

समाज इस बात का भी विचार करे कि उसके व्यक्ति कैसा जीवन बिता रहे हैं, उनकी आवश्यकताएं किस दिशा में बढ़ रही हैं, और किसमें घट रही हैं। निदान, उसे जनता के सम्मुख सभ्यता सम्बन्धी समुचित आदर्श प्रस्तुत करते रहना चाहिए। इसके लिए आवश्यकता है, त्याग और सेवा के भावों की वृद्धि की, आधुनिक सभ्यता के भौतिक स्वरूप और सुखवाद में आमूल परिवर्तन कर देने की, धन-भद्र तथा तामसिक आवश्यकताओं को घटाने की, और कभी तृप्त न होने वाली विषय-वासनाओं को आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा शान्त करने की। यदि समाज इन बातों की ओर समुचित ध्यान दे तो निस्सन्देह आशा है कि वह अपराध-निवारण में बहुत सहायक होगा।

चौबीसवाँ परिच्छेद

राज्य का कर्त्तव्य

—:०:—

“जिस अनुपात में शासन-कार्य उत्तमता से सम्पादित होता है, उसी अनुपात में अराधों की न्यूनता होती है। इसलिए अपराध-निवारण का प्रथम और सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय बुद्धिमता-पूर्वक किया हुआ शासन है, जिससे सर्व-साधारण की सुख समृद्धि हो।”

राज्य का उत्तरदायित्व—आज कल समाजों की शक्ति दीण हो गई, और होती जा रही है। मनुष्यों को अनेक सामाजिक विषयों के लिए राज्य का आसरा लेना पड़ता है। शिक्षा, साहित्य, व्यापार और स्वास्थ्य अ-राजनैतिक विषय भी राज्य के नियंत्रण में रहने लगे हैं। धर्माचार्यों का जैसे क्षेत्र भी बहुत परिमित हो चला है, अनेक धार्मिक विषयों के संचालन की विधि कानून द्वारा निश्चित है। ऐसा मालूम होता है कि चहुँ ओर से शक्ति की विविध धाराएँ आकर राज्य रूढ़ि केन्द्रीय समुद्र में मिलती जा रही हैं। इसके फल-स्वरूप राज्य का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है, राष्ट्र का भला-बुरा बहुत-कुछ अब राज्य के सूत्र-संचालन पर निर्भर है। ‘कोई नृप होय हमें का हानी’ की बात अब लागू नहीं हो सकती। अब तो राज्य को लक्ष्य में रख कर यह कहा जा सकता है कि ‘एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।’ अस्तु, जनता के अन्यान्य कार्यों की भांति अपराध निवारण में भी राज्य बहुत महत्व-पूर्ण भाग ले सकता है। पहले उसके शिक्षा सम्बन्धी कार्य का विचार करें।

राज्य का शिक्षा सम्बन्धी कार्य—अपराध-निवारण के लिए, न केवल शिक्षा-प्रचार की, वरन् शिक्षा-सुधार की कितनी आवश्यकता है, यह पहले बताया जा चुका है। यह कार्य काफी व्यय तथा श्रम साध्य है, और राज्य की पर्याप्त सहायता बिना होना कठिन है। कुछ राज्य बालक-बालिकाओं की शिक्षा में विशेष व्यय करना आवश्यक नहीं समझते। यह ठीक नहीं। एक बालक या बालिका को शिक्षा देकर सामाजिक और नैतिक नियमों के अनुकूल बनाना आसान है, उसकी आदतों और चरित्र का आवश्यकतानुसार निर्माण किया जा सकता है। परन्तु परिपक्व अवस्था के पुरुष या स्त्री का रंग-ढंग सुधारना अत्यन्त कठिन है, उसके लिए रुपया और शक्ति खर्च करना बहुत कम उपयोगी होता है। क्या ही अच्छा हो, भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों के सूत्रधार इस तत्व को हृदयंगम करें, और अपने-अपने यहाँ की शिक्षा-पद्धति में यथेष्ट सुधार करने और विकसित शिक्षा-प्रणाली का प्रचार करने में कोई कोर-कसर उठा न रखें।

साहित्य सम्बन्धी कार्य—इसी प्रकार, राज्य को चाहिए कि ऐसे लोकोपकारी साहित्य को प्रोत्साहन दे, जिससे जनता में शान्ति तथा संयम का, और कर्तव्य-पालन सम्बन्धी विविध भावों का उदय हो। इसके साथ ही युवकों के हृदय और मन को बिगाड़ने वाली रचनाओं आदि पर यथेष्ट अंकुश रखा जाना चाहिए।

यदि प्रत्येक नगर या जिले के अपराधियों के सम्बन्ध में गवेषणामय जांच की जाने पर, प्रति-वर्ष कुछ विचार-पूर्ण रिपोर्टें तैयार और प्रकाशित की जायँ तो अपराध-निवारण (तथा अपराध-चिकित्सा) के विषय में अच्छी विचारणीय सामग्री मिलने की सुविधा हो। इस समय इस दिशा में, अनेक देशों में प्रायः कुछ भी कार्य नहीं हो रहा है। अधिकांश जजों के फैसले और जेलों की रिपोर्टें ऐसी शुष्क तथा नीरस होती हैं, जिनसे इस विषय में कुछ उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। उनकी एक खास प्रकार की शैली है, निर्धारित ढांचा है, उसमें कोई मौलिकता

नहीं, मनोविज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए वे प्रायः निरर्थक होती हैं। वे अधिकतर एक रस्म अदा करने के लिए होती हैं, शायद इससे अधिक कुछ और लक्ष्य या उद्देश्य उनके प्रणेताओं के ध्यान में भी नहीं होता। अन्यान्य देशों में अमरीका में इस विषय का अच्छा विचार हुआ, तथा हो रहा है। वहां अपराध विषय का भी मानों एक शास्त्र बन गया है। वहां के इस विषय के साहित्य से अन्य देश वालों को बहुत कुछ सहायता मिल सकती है, और वे अपने यहां की विशेष परिस्थिति के अनुसार वहां की कार्य-शैली का उपयोग कर सकते हैं।

वर्तमान परिस्थिति में अधिकांश राज्य उपर्युक्त प्रकार की जांच सम्बन्धी शिक्षाप्रद रिपोर्टें प्रकाशित कराने की कल्पना ही नहीं करते। उन्हें यह कार्य व्यर्थ सा जंचता है। वे इस मद में रुपया खर्च करने को अपव्यय समझेंगे, इसके वारते उनके पास द्रव्याभाव रहता है, यद्यपि वे जेल और पुलिस आदि के हिसाब में प्रति वर्ष बड़ी-बड़ी रकमें खर्च करने के आदी हैं। वे भूल जाते हैं कि उनका विचार अदूरदर्शिता-पूर्ण है; उनकी मित-व्ययिता अन्ततः उन्हें बड़ी मंहगी पड़ती है। जहाँ उनकी पुलिस, जेल, अदालतें आदि वर्तमान अवस्था में अपराधों की संख्या और मात्रा की वृद्धि करती हैं, उपर्युक्त कार्य से वे अपराधी नागरिकों को सन्मार्ग पर लाने में सहायक हो सकते हैं, और अपराधों को बहुत अंश में घटा सकते हैं, जिसका, नैतिक महत्व के अतिरिक्त, आर्थिक उपयोग भी कुछ कम न होगा।

आर्थिक सुव्यवस्था—हम अपराधों के निदान में बता चुके हैं कि बहुत से अपराधों का कारण लोगों की आर्थिक असुविधाएं होती हैं। राज्य को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि कोई नागरिक अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों से वंचित न रहे। खाने-पहनने की आवश्यक सामग्री प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ हो। अवश्य ही इसके लिए वह परिश्रम करे, परन्तु उसे परिश्रम इतना अधिक या इतनी देर

तक न करना पड़े कि उसे विश्राम, मनोरंजन या अपने विकास सम्बन्धी बातों के लिए समय का अभाव हो जाय, या उसे अपने निर्वाह के लिए आत्म-सम्मान, स्वाभिमान या अम्य विविध सदगुणों को तिलांजलि देनी पड़े। साथ ही यह भी आवश्यक है कि धन का वितरण नागरिकों में ऐसा न हो कि एक ओर तो कुछ भी परिश्रम न करने वाले कुछ व्यक्ति अनन्त धन-राशि के स्वामी हों, और दूसरी ओर असंख्य नागरिक जैसे-तैसे जीवन व्यतीत करनेवाले हों, राज्य को धनोत्पादन, व्यापार और विनिमय आदि पर उपर्युक्त दृष्टि से नियन्त्रण करना चाहिए, उसकी कर-निर्धारण-नीति भी इस विषय में समुचित सहायक होनी चाहिये। निदान राज्य की अर्थ-नीति का परिणाम यह न होना चाहिए कि धनी, और अधिक धनवान होते जायँ, और साधारण आदमी अधिकाधिक गरीबी में पिसते जायँ, वरन् यह होना चाहिए कि उससे धनवान और गरीबों का अन्तर यथा-सम्भव कम हो, और उस अन्तर के घटने की ही प्रवृत्ति रहे। ऐसा होने से बहुत से अपराधों के होने का अवसर ही न आएगा, और नागरिक अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करेंगे।

नैतिक विचारों का प्रचार—राज्य को अपने नागरिकों की नैतिक पुष्टि भी करनी चाहिए, जिससे उनमें क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष, छल, कपट, हिंसा और उद्विग्नता का भाव न हो। वे धीर, संतोषी, संयमी परोपकारी तथा सेवा-व्रती हों। वे दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझ कर उसे यथा-सम्भव घटाने में सहयोग देने वाले हों। इसी प्रकार दूसरों की सुखसमृद्धि को देख कर उनके मन में किसी तरह की जलन न हो; इसके विपरीत, वे इस बात में आनन्द का अनुभव करें कि उनके देश-बन्धु प्रसन्न हैं।

इसके लिए राज्य को समुचित शिक्षा और साहित्य का प्रचार करना चाहिए। समय-समय पर अच्छे उपदेश, कथा-वार्ता, भाषण और मेजिक लालटेन के दृश्य दिखाने का कार्य भी होना चाहिए, जिससे प्रौढ़ जनता को भी

यथेष्ट सामग्री मिलती रहे। साथ ही राज्य को चाहिए कि वह अनिष्टकारी साहित्य और भाषण आदि पर पर्याप्त नियन्त्रण रखे; सिनेमा-नाटक आदि से भी तामसिक विचारों का प्रचार न होने दे। मादक या उत्तेजक पदार्थों के व्यवहार का सौम्य उपायों द्वारा निषेध करे। ये कुछ उदाहरण मात्र हैं। अन्य कार्यों की स्वयं कल्पना की जा सकती है। निदान, जनता में नैतिक विचारों के सम्यक् प्रचार होने की दशा में, नागरिकों की अपराध करने की प्रवृत्ति का अच्छा नियंत्रण हो सकता है। भावुकता तथा मानसिक विकारों या दुर्बलता के कारण किए जानेवाले अपराधों के निवारण के लिये तो नैतिक शिक्षा की विशेष ही आवश्यकता है।

बहुत से देशों में सरकारों की दृष्टि एकांगी रहती है। यदि उन्हें किसी लेख या भाषण में, अथवा नाटक या सिनेमा आदि में जरा भी विरोधी राजनीति की गन्ध आई तो उसे तत्काल कानून की पकड़ में ले लेती है; परन्तु इसके विपरीत, उनमें अश्लीलता, या दुराचार, आदि का आभास मिले, तो उसे वे यथेष्ट नियंत्रित नहीं करती। वास्तव में नैतिकता, राजनीति की अपेक्षा, कहीं अधिक ध्यान देने योग्य वस्तु है; कारण, उसका मनुष्य-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, और राजनीति तो अस्थायी है, समय-समय पर बदला करती है।

कानून की उपयोगिता—अपराध-निवारण के लिए यह आवश्यक है कि अनुकूल लोक-मत तैयार किया जाय। ऐसा किए बिना, समाज-सुधार के वास्ते कानून पर आश्रित रहना कदापि उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में इस तत्व को भली-भांति ध्यान में रखने की आवश्यकता है, कि यद्यपि मनुष्य-चरित्र के सुधार में कानून का भी कुछ स्थान है, परन्तु इस विषय के अन्य सहायकों की अवहेलना करके कानून को बहुत अधिक महत्व देना बड़ी भूल है। अनेक दशाओं में जहाँ कानून-सत्ता या शक्ति का प्रयोग विफल होता है, कृपा और सहानुभूति का प्रयोग सफल होता पाया गया है।

राज्य को स्मरण रखना चाहिए कि कानून में मानवी आवश्यकताओं का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। आदमी सार्वजनिक रास्तों या सड़कों की नालियों में चाहे जहाँ बैठकर पेशाब न करें, इसके लिए स्थान-स्थान पर पेशाब-घर बनवाए जाने चाहिए। आदमी भीख न मांगे, इसके लिए बेकारों के वास्ते ऐसे कारखानों आदि की व्यवस्था होनी चाहिए जहाँ काम करने पर उन्हें रोटी-कपड़ा तो मिल सके। इसी प्रकार कानून में मनुष्यों की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए।

शासन-व्यवस्था में जनता का भाग—यह व्यवस्था विशेष तथा व्यापक रूप में तभी सम्भव है, जब शासन विषय में मनोविज्ञान-वेत्ताओं का समुचित परामर्श रहे, तथा राज्य के कार्य जनता के मतानुसार, और जनता के लिए हितकर हों। सबको विकास और उन्नति के यथेष्ट अवसर प्राप्त हों। राज्य में कहीं भी पक्षपात, दमन या कूटनीति आदि का समावेश न हो। लोगों को असन्तोष का अवसर न मिले। सरकार जो कानून आदि प्रचलित करे वह अधिक से अधिक जनता का बनाया हुआ हो, यथा-सम्भव किसी को यह कल्पना ही न होने पावे कि उस पर राज्य का नियंत्रण है, या उसकी ओर से कोई दबाव डाला जा रहा है। वे स्वेच्छा से हर्ष-पूर्वक उनका पालन करनेवाले हों। ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति अज्ञान या भ्रम-वश किसी नियम की उपयोगिता न समझकर उसकी अवहेलना करने लगेगा तो उसके अनेक सहयोगी साथी स्वयं राज्य-कार्य से सन्तुष्ट होते हुए, यथा-सम्भव उसे भी सन्मार्ग पर आने के लिए प्रेरित करेंगे। लोगों की राजनैतिक अपराध करने की भावना ही न होगी।

राष्ट्रीय कार्यक्रम—पराधीन देशों के इतिहास का सूक्ष्मअवलोकन करने से यह स्पष्ट सिद्ध है कि जब कभी उन देशों में स्वाधीनता का आन्दोलन जोरों पर रहा है, वहाँ चोरी-ठगी आदि के अपराध अपेक्षाकृत बहुत कम हुए हैं। इस बात से राज्यों को समुचित शिक्षा लेनी

चाहिए, और उन्हें जनता के सामने ऐसा राष्ट्रीय कार्यक्रम रखना चाहिए, जिसमें विचार, विवेक, साहस, धैर्य, अध्यवसाय आदि विविध गुणों का उपयोग हो, और नागरिकों की विविध श्रेणियों के लिए सम्यक् कार्य मिल सके। जब जनता का ध्यान ऐसे कार्य में लगा रहता है, तो उनके वास्ते अपनी शक्ति के सदुपयोग का मार्ग प्रशस्त होता है, और वे दुष्कृत्य करके अपराधी नहीं बनते। कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त कार्यक्रम की व्यवस्था भी तभी ठीक हो सकती है, जब राज्य और जनता में पूर्ण सहयोग हो, एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखें, दोनों के स्वार्थों में समता हो।

विश्व-नागरिकता—शिक्षा के प्रसंग में हमने उस धार्मिक शिक्षा की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है, जो सब धर्म वालों से, बिना किसी भेद-भाव के, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग करना सिखाए, जो मनुष्यों में विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार करे। राज्य का भी कर्तव्य है कि वह उस दिशा में सहायक हो। आज कल राज्यों का दृष्टिकोण नितान्त अनुदार है, वे अपने साधारण योग्यता वाले नागरिक को बहुत उच्च स्थान, पद या प्रतिष्ठा देते हैं, और दूसरे राज्य के उससे अधिक गुण-सम्पन्न व्यक्ति का इतना भी आदर नहीं करते। अनेक राज्य दूसरों का धन-शोषण करने और तरह-तरह से उन्हें हानि पहुँचाने में संकोच नहीं करते। नागरिकों के सामने विश्व-बन्धुत्व का आदर्श रहना चाहिए, वे विश्व-नागरिक बनने चाहिए। दूसरे राज्य के नागरिकों के प्रति कोई अपराध करना उतना ही निन्द्य तथा त्याज्य होना चाहिये जितना अपने राज्य के नागरिक बन्धुओं के प्रति। अपराध, आखिर अपराध है, वह किसी भी मनुष्य के प्रति क्यों न किया जाय। काले या पीले आदमी को गाली देना, या मारना-पीटना वैसा ही खराब है, जैसा किसी गोरे या भूरे आदमी को। जब राज्य इस प्रकार के भावों का प्रचार करेंगे, तभी नागरिकों की मनोवृत्ति में वास्तविक सुधार होगा। क्या राज्यों

से ऐसी आशा करना अनुचित है ? हम मानव विकास के सम्बन्ध में, अनेक बाधाओं और कठिनाइयों का अनुभव तथा अनुमान करते हुए भी, निराश नहीं हैं। हो सकता है, मनोरथ सिद्ध होने में बहुत देर लगे, पर अन्ततः मानव समाज अपनी मंजिल पूरी करेगा, उसका अभीष्ट सुधार होगा। जो व्यक्ति, जो संस्थाएँ, जो राज्य इसमें योग दें, वे धन्य हैं।

अस्तु, वास्तव में यदि राज्य अपना कर्तव्य ठीक रीति से पालन करे और अपना दृष्टि-कोण उदार बनाए तो अपराध-निवारण में बड़ी सफलता मिल सकती है। राज्यों को स्मरण रखना चाहिए कि उनके यहाँ बहुत से अपराधों का होना और उनका इनकी चिकित्सा करना (जो बहुत कम अंश में ही सफल होती है), उनके वास्ते इतना शोभास्पद नहीं है, जितना यह कि अपराध हों ही नहीं, या बहुत कम हों। और, अपराधों का कम होना बहुत कुछ राज्य की सुव्यवस्था, सुप्रबन्ध और विशाल-हृदयता पर निर्भर है।

×

×

×

कैद से छुटे हुएों की सहायता—अपराध-निवारण के सम्बन्ध में राज्य का एक कार्य यह भी है कि वह कैद से छुटे हुएों की यथेष्ट सहायता की व्यवस्था करे। आदमी के जीवन में वह समय बहुत कठिन होता है जब कि वह कैद से छूटकर फिर बाहरी दुनिया में आता है। इस बीच में वातावरण में काफी परिवर्तन हो चुकता है। उसके कुछ मित्र और साथी बिछुड़ जाते हैं। अथवा उसका कोई रिश्तेदार भी मर चुकता है। उसकी आजीविका का ढंग बिगड़ जाता है और बहुधा उसके जान-पहचान वालों की निगाह भी उसकी ओर से फिरी हुई रहती है। उसकी साख कम हो जाती है, उसका कोई विश्वास नहीं करता, उसे कोई अपने यहाँ नौकर रखना नहीं चाहता। सब उससे घृणा करते हैं। यदि ऐसी अवस्था में उसे किसी की सहायता न मिले तो बहुत-कुछ सम्भावना इसी

बात की होती है कि वह अपने ही जैसे आदमियों से मिले-जुले और दुबारा जेल जाने की तैयारी करे।

इंग्लैंड में कैद से छूटे हुए व्यक्तियों की सहायता करने की ओर अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग से ही ध्यान दिया जा रहा है। वहाँ इस कार्य के लिए बहुत सी समितियाँ बनीं और, इनके नियमों और कार्य-पद्धति में धीरे-धीरे सुधार हो कर ये बहुत उपयोगी कार्य करने लग गई हैं। भारतवर्ष में सबसे पहले उत्तरप्रदेश में सन् १८६३ में 'डिस्चार्ज्ड प्रिज़नर्स एंड सोसाइटी' (मुक्त-कैदी-सहायता समिति) खोली गई थी। पीछे दूसरे राज्यों में भी ऐसी संस्थाएँ स्थापित हुईं। काँग्रेस सरकार के समय (१९३७—३९) में इन संस्थाओं का फिर से संगठन किया गया। उत्तर प्रदेश में लखनऊ में एक सेन्ट्रल कमेटी (केन्द्रीय समिति) खोली गई। इसकी शाखाएँ प्रत्येक जिले में स्थापित हुईं, इनका चेयरमेन जिलाधीश होता है, और इनके प्रबन्ध के लिए एक कमेटी रहती है।

केन्द्रीय समिति को सरकार सहायता देती है जिला-समितियों को युनिस्पल-बोर्ड, जिला-बोर्ड और कोर्ट-ऑफ-वार्ड्स सहायता दे सकते हैं और देते भी हैं।

जिला-समिति को जेल, रिफार्मेटरी (सुधारशाला) और बोस्टल के अधिकारियों से मिल कर काम करना चाहिए। समिति को अपने काम में जात-पात या धर्म आदि का भेद न कर सभी मुक्त कैदियों की सहायता करनी चाहिए। उसके कार्यकर्ताओं को जेल में जाकर उन कैदियों से बातचीत करनी चाहिए, जो एक महीने के अन्दर रिहा होने वाले हों। जेल से छूटने पर कैदी क्या काम करना चाहता है, कहाँ रहना चाहता है, उसे क्या भय या चिन्ता है, कौन उसके मित्र या उससे सहानुभूति रखने वाले हैं। इन बातों का पता लगाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो उसे ऐसे साथियों के चंगुल में न फँसने दिया जाय, जिनके कारण उसे जेल जाना पड़ा था। मुक्त बन्दी को नौकरी दिलवाने या काम से लगाने का प्रयत्न

किया जाय और जब तक उसे काम न मिले तब तक उसके रहने और खाने का प्रबन्ध किया जाय। जो कैदी स्वयं कुछ धन्धा जानते हैं, उन्हें उनके पेशे के औजार खरीद दिए जाने चाहिए। बाहर जाने वालों को रेल-किराया आदि देकर वहाँ पहुँचाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

सभी कैदियों को रिहाई पर विशेष सहायता की आवश्यकता नहीं होती। कुछ ही कैदी ऐसे होते हैं, जिन्हें सहायता की बहुत जरूरत होती है। पढ़े-लिखे कैदी जो पहले सरकारी या अन्य सार्वजनिक संस्थाओं में नौकरी पर थे, उन्हें जेल से छूटने पर नौकरी मिलना कठिन होता है। इन्हें भरसक सहायता मिलनी चाहिए। यदि ये लोग जेल में कोई काम सीख लें तो इन्हें पीछे आजीविका प्राप्त करने में कठिनाई कम हो। सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता जवान और कम उमर के आदमियों को है। इनमें से ही दुबारा-कैदी और पेशेवर अपराधी बनते हैं। यदि पहली ही सजा के बाद ऐसे व्यक्ति का सुधार कर दिया जाय और नौकरी दिलाकर इन्हें ईमानदारी के रास्ते पर लगा दिया जाय तो सदा के लिए एक व्यक्ति सुधर जाता है और एक पेशेवर अपराधी से समाज की रक्षा हो जाती है। इससे सरकार को भी आर्थिक लाभ होता है। प्रत्येक राज्य में लगभग २० प्रतिशत कैदी दुबारे होते हैं और हरेक कैदी पर काफी खर्च बैठता है। यदि कैद से छूटे हुए व्यक्तियों की यथेष्ट सहायता की जाय और उन्हें कुमार्ग पर जाने से बचाने का प्रयत्न किया जाय तो दुबारा कैदियों की संख्या बहुत कम हो सकती है। इससे सरकार को जेल के खर्च में बचत होगी और समाज को बहुत से अपराधियों से भय कम हो जायगा। ❀

—:❀:—

चौथा खंड

वैज्ञानिक अपराध-चिकित्सा पद्धति



पच्चीसवाँ परिच्छेद

अपराधों का वर्गीकरण



“वर्गीकरण का कार्य बहुत कठिन, और कुछ दशाओं में भ्रम-पूर्ण भी होता है, यथापि इसकी आवश्यकता असंदिग्ध है।”

प्राक्थन—हम उन बातों का विचार कर चुके हैं, जिनसे अपराधों के रोकने में बहुत सहायता मिल सकती है। अपराधों को रोकने के भरसक प्रयत्न करते रहने पर भी कुछ व्यक्तियों का समय-समय पर अपराधी होना सम्भव है। और, समाज तथा राज्य को इस ओर उदासीन नहीं रहना चाहिए। अस्तु, अब इस खंड में हमें उन व्यक्तियों विचार करना है, जो किसी अपराध के अपराधी पाए जायें। इनके विषय में चिकित्सा किस प्रकार की जाय, जिससे इनका सम्यक सुधार हो, इनकी अपराध करने की मनोवृत्ति हट जाय ? इसके लिए, पहले अपराधों के वर्गीकरण का विचार करना आवश्यक है।

वर्गीकरण की कठिनाई—राज्य तथा नागरिकों को यह जानने की रुचि तथा आवश्यकता होती है कि उनके देश में अपराध कैसे और कहाँ तक होते हैं। परन्तु अपराधों का वर्गीकरण है बहुत कठिन। यह मान लेने पर भी कि अमुक कार्य अपराध है, सब आदमी प्रायः इस विषय में सहमत नहीं होते कि उस अपराध को किस भेद के अन्तर्गत समझना चाहिए, कोई उसे एक प्रकार का बतलाएगा, कोई दूसरे प्रकार का। इसका कारण यह भी है कि अपराध से सम्बन्ध रखने वाली बातें बहुत सी होती हैं; उनमें से कुछ का विचार करने से जो अपराध एक प्रकार का मालूम होता है, दूसरी बातों का विचार करने से वही अपराध अन्य प्रकार का मालूम होने लगता है।

कुछ प्रचलित वर्गीकरण—प्रायः कानून के अनुसार, अपराधों के दो भेद किए जाते हैं, जमानत के योग्य, और जमानत के अयोग्य। प्रथम प्रकार के अपराधों के अभियुक्त जमानत पर छोड़े जाते हैं; दूसरे, जमानत पर नहीं छोड़े जाते। इस वर्गीकरण से यही मालूम होता है कि अमुक अपराध साधारण है, और अमुक घोर है। अपराधों का एक वर्गीकरण दीवानी और फौजदारी का होता है। प्रायः जो अपराध किसी व्यक्ति के विरुद्ध माना जाता है, वह दीवानी कहलाता है; और जो, समाज के विरुद्ध माना जाता है, वह फौजदारी कहलाता है। उदाहरणार्थ, एक आदमी किसी से रुपया उधार लेकर, उसे (व्याज सहित) लौटाता नहीं; यह उसी व्यक्ति की हानि करता है, जिसने उसे उधार दिया है, समाज के दूसरे आदमी उससे इस प्रकार का व्यवहार न करके हानि से बचे रहते हैं; ऐसे अपराध को दीवानी अपराध कहते हैं। अब, कल्पना करो कि एक आदमी चोरी या लूट-मार करता है, या किसी को गाली देता है। ऐसे आदमी से समाज में सब को भय रहता है, क्योंकि उससे जाहे जिसकी हानि हो सकती है। इस प्रकार के, अर्थात् चोरी, लूट आदि के अपराध फौजदारी के अपराध कहलाते हैं। यह वर्गीकरण भी बहुत उत्तम

नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि फौजदारी अपराध दीवानी अपराध से गुरुतर ही हों। और, अनेक बार तो ऐसा भी देखने में आता है कि एक कार्य में दोनों प्रकार के अपराधों का समावेश हो जाता है, और यह अभियोग चलाने वाले की इच्छा या सुविधा पर निर्भर होता है कि वह एक प्रकार का चलाए या दूसरी प्रकार का; पहले दीवानी करे या फौजदारी, अथवा दोनों एक साथ ही करे।

भारतवर्ष में सरकारी कागजों में बहुधा अपराधों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है:—(१) राज्य, अथवा सार्वजनिक शान्ति के विरुद्ध, (२) हत्या, (३) किसी की जान लेने के लिए अन्य घोर अपराध, (४) लूट-मार, (५) पशुओं की चोरी, (६) साधारण चोरी, और (७) अपराध करने के विचार से, किसी के घर में (बिना अधिकार) प्रवेश, या मेंध लगाना। यह वर्गीकरण भी कुछ वैज्ञानिक आधार पर नहीं है। यह तो इसी से स्पष्ट है कि साधारण चोरी और पशुओं की चोरी में भेद किया गया है, और सब हत्याओं को, उनके प्रेक्ष्य हेतु का विचार न कर, एक ही श्रेणी में रखा गया है।

अपराधों का एक वर्गीकरण दंड के आधार पर भी किया जाता है। श्री प्रकाशनारायण जी सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'दंड शास्त्र' में लिखा है—जुर्म संगीन है या मामूली। उनके लिए जो सजा तय की गई है, उससे मालूम हो सकता है। राज्य या देश के खिलाफ बगावत और हत्या करने के जुर्म में फांसी की सजा है। चोरी करने के जुर्म में जेल की सजा है। सड़क पर गलत ओर मोटर चलाने पर केवल जुर्माने की सजा है। इन मजाओं से पता चलता है कि कौन जुर्म मामूली और कौन संगीन है।

मोटे तौर पर जुर्म इतनी तरह के होते हैं:—१—जायदाद के खिलाफ जुर्म, २—समाज के अमन-चैन के खिलाफ जुर्म, ३—धर्म के खिलाफ जुर्म, ४—परिवार के खिलाफ जुर्म, ५—सदाचार के खिलाफ जुर्म, ६—समाज की मालियत की हिफाजत के खिलाफ जुर्म।

विचारणीय वर्गीकरण; प्रत्यक्ष सार्वजनिक अपराध—

विचार करने पर मालूम होगा कि कुछ अपराध तो समाज के मूल पर अर्थात् उसके संगठन पर ही कुठाराघात करनेवाले होते हैं। अन्य अपराध समाज के किसी अंग—व्यक्ति या परिवार को हानि पहुँचाने वाले होते हैं। इस प्रकार अपराधों के दो भेद किए जा सकते हैं, सार्वजनिक, और व्यक्तिगत। सार्वजनिक अपराधों के पुनः दो भेद हो सकते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष सार्वजनिक अपराध वे हैं, जो समाज या राज्य के कार्यों में बाधा उपस्थित करते हैं। राज्य के कुछ कार्य अनिवार्य और कुछ ऐच्छिक होते हैं। अनिवार्य कार्य बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना आन्तरिक शान्ति या अमन बनाए रखना तथा भगड़ा करनेवालों के मामलों का फैसला करना है। इन कार्यों तथा अपने ऐच्छिक कार्यों, लोकहितकर कार्यों (शिक्षा, स्वास्थ्य, सुविधा, यातायात, सम्वादवाहन, कृषि, उद्योग आदि) की व्यवस्था करने के लिए राज्य विविध कर्मचारी रखता है, उनके कर्तव्य ठहराता है, कर लगाता है, तथा कानून बनाता है; और उनमें संशोधन करता है। नागरिक के जिस कार्य से राज्य के इन कामों में बाधा उपस्थित होती है, वह राज्य के विरुद्ध अपराध माना जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष सार्वजनिक अपराधों के निम्नलिखित भेद मुख्य हैं:—

१—संगठित या पूर्ण राज्य के विरुद्ध, तथा बाहरी रक्षा के विरुद्ध

२—शान्ति-विरोधी

३—न्याय-कार्य के विरुद्ध

४—राज्य कर सम्बन्धी

५—राज्य कर्मचारियों के विरुद्ध

६—राजकर्मचारियों का अपने अधिकारों का दुरुपयोग।

७—राज्य के कानूनों के विरुद्ध

राज्य में म्युनिसिपैलटी, लोकल बोर्ड, पंचायत, पोर्ट ट्रस्ट तथा विविध कम्पनियां आदि अनेक संस्थाएं होती हैं; जिन्हें अपने-अपने क्षेत्र में विविध

अधिकार होते हैं। वे राज्य के ऐच्छिक कार्यों के सम्बन्ध में कुछ नियम-उपनियम बना सकती हैं। उन नियमों आदि को भंग करना अपराध माना जाता है।

परोक्ष सार्वजनिक अपराध—यहां तक तो उन अपराधों का वर्णन हुआ जो प्रत्यक्ष रूप से समाज को हानि पहुँचाते हैं। परोक्ष हानि ऐसे कार्यों से पहुँचती है जो जनता के धर्म, रीति-रस्म या आचार-व्यवहार के विरुद्ध हों। प्रायः आदमी इस बात से बड़ी धृष्टता किया करते हैं कि कोई उनके धार्मिक विश्वासों, या आचार-व्यवहार अथवा रीति-रस्म की निन्दा करे, और इन पर आघात पहुँचाए। ये कार्य समाज के लिए हानिकर होते हैं, और सार्वजनिक अपराध माने जाते हैं। प्राचीन काल में, प्रायः प्रत्येक देश में समाज की एकता का मुख्य आधार धर्म और आचार-व्यवहार रहा है। एक-एक धर्म, या एक-एक प्रकार के आचार-व्यवहार वाले आदमियों का दूसरों से पृथक् संगठन होता था। धार्मिक समभाव का बहुधा अभाव होता था, जो व्यक्ति एक धर्म के आधार पर संगठित समाज के विरुद्ध कुछ कहता सुनता था, वह समाज के कठोर दंड का भागी होता था। अब भी बहुत से अपराध धार्मिक असहिष्णुता के कारण होते हैं।

व्यक्तिगत अपराध—अब तक सार्वजनिक अपराधों का विचार हुआ। अब 'व्यक्तिगत' श्रेणी में माने हुए अपराधों का विचार करते हैं। ये किसी एक या अधिक आदमियों या संस्थाओं के विरुद्ध होते हैं। मनुष्य में तीन प्रकार की भावनाएं होती हैं:—आत्म-रक्षा, वंश-वृद्धि और समाज-हित की। व्यक्तिगत अपराध उस समय किए जाते हैं, जब इनमें से पहली या दूसरी भावना तीसरी का दमन कर देती है। इन अपराधों के निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं:—१—अपने कुशल-क्षेम के लिए २—अपने लाभ के लिए ३—ईर्ष्या वश। ये हैं वे अपराध, जो आदमी आत्म-रक्षा या अपनी मनस्तुष्टि की भावना से प्रेरित होकर करता है।

अब, तनिक उन अपराधों का विचार करें जो अपने परिवार या जाति की रक्षा या वृद्धि की भावना से किए जाते हैं। ये अपराध या तो व्यक्तियों को हानिकर होते हैं, या विवाह-प्रथा पर, अथवा भावी पीढ़ी या वंश-वृद्धि पर आघात करते हैं। इनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है:—१—व्यक्तियों के विरुद्ध, २—परिवार के विरुद्ध, ३—जाति या वंश के विरुद्ध। इनमें से पहले प्रकार में, प्रायः ईर्ष्या-वश किए हुए अपराध होते हैं; दूसरे प्रकार में, स्त्रियों की पवित्रता या विवाह-बन्धन को नष्ट करनेवाले होते हैं, और तीसरे प्रकार में, आने वाली पीढ़ी अर्थात् बच्चों के विरुद्ध किए हुए अपराध सम्मिलित होते हैं।

यहाँ अपराधों का स्थूल वर्गीकरण ही दिया गया है। ऊपर बताई हुई, प्रत्येक श्रेणी में बहुत से अपराध हो सकते हैं, विस्तार-भय से उनका व्यौरा नहीं दिया जा सकता। अपराधों के वर्गीकरण में मत-भेद की बहुत गुंजायश है, यह पहले कहा ही जा चुका है।

राष्ट्रीयता का भेद-भाव अनुचित है—इस परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व एक बात और। इस समय प्रायः राष्ट्रों की भावनाएं बहुत संकीर्ण हैं। प्रत्येक राष्ट्र, जब किसी अपराधी का विचार करता है, तो वह यह सोचता है कि उसने मेरी हानि की है, या किसी अन्य राष्ट्र की। वह यह नहीं सोचता कि यदि किसी आदमी ने अपराध किया है तो वह अपराध मनुष्य के, एवं मानव-जाति के, विरुद्ध है, जिसका दूसरा राष्ट्र भी उतना ही अंग है, जितना मैं। इस समय तो अनेक राष्ट्र अपने उन व्यक्तियों को सगर्व सम्मानित करते हैं, जो दूसरे देशों का जन-धन लूट लाते हैं। यदि वे अपने नागरिकों को वास्तव में मनुष्यत्व प्राप्त कराना चाहते हैं तो उनका कर्तव्य है कि वे उन्हें चोरी, भ्रूट, हिंसा, व्यभिचार आदि दुर्गुणों से मुक्त करें, चाहे ये अपराध किसी भी देश के आदमियों के विरुद्ध क्यों न हों। इस प्रकार के उदार भावों के प्रचार होने पर राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय अपराध में कुछ अन्तर नहीं रहता।

मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र से निकल कर सामूहिक स्वार्थ का अनुभव करने लगा है। वह अपने घर, ग्राम या नगर, और प्रान्त से बढ़ कर क्रमशः राष्ट्र तक आ पहुँचा है। परन्तु अभी उसे उदारता के क्षेत्र में और भी यात्रा करनी शेष है, वास्तविक सभ्यता की स्थिति में समस्त मानव-समाज के स्वार्थों में ऐक्य का अनुभव होना चाहिए। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, प्रत्येक व्यक्ति के सामने विश्व-नागरिक और विश्व-बन्धुत्व का आदर्श रहना चाहिए। उस दशा में अपराध सर्वत्र अपराध माना जायगा। मनुष्य समाज एक है, उसे जाति, रंग, या राष्ट्रीयता आदि की दीवारों से विभाजित करना अनुचित है।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

अपराधियों के भेद

—:०:—

अपराधियों की वैज्ञानिक चिकित्सा के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम अपराधियों को अच्छी तरह जानने और समझने की कोशिश करें। यह न होना चाहिए कि सभी चोरी करनेवालों का चाहे वे बालक हों या बालिग, या वृद्ध, समझदार हों या पागल, पुरुष हों या स्त्री—चोर समझ लिया जाय, और कायदे कानून की धारा के अनुसार सब को दंड देने में एक लाठी से हांकने का काम किया जाय।

कुछ समय पहले एक विचार-धारा चली थी कि अपराधियों की एक खासी संख्या—लगभग एक-तिहाई—ऐसे होते हैं, जो जन्मजात

या पैदायशी अपराधी कहे जा सकते हैं। अब इस सिद्धान्त का खंडन हो चुका है यह पहले विस्तारसे लिखा जा चुका है। यहाँ अपराधियों के अन्य भेदों का क्रमशः विचार किया जाता है।

१-पागल अपराधी—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो जन्म से अपराधी न होते हुए, अपने जीवन में किसी खास समय मस्तिष्क के विकार के कारण पागल एवं अपराध करने वाले हो जाते हैं। वे अच्छे और बुरे में भेद करने में असमर्थ हो जाते हैं, वे अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। अतः उन्हें उनको छिपाने की भी चिन्ता नहीं होती। उन्हें दंडित होने का भय नहीं होता। अन्य अपराध करनेवाले प्रायः अपराध इस लिए किया करते हैं कि उनकी, अपना स्वार्थ-सिद्ध करने की इच्छा बड़ी प्रबल होती है। परन्तु पागल अपराधियों की, ऐसे कार्य करने की इच्छा होती है, जिनके करने में उन्हें एक प्रकार के आनन्द का अनुभव हो; उनसे उन्हें लाभ होना आवश्यक नहीं। चोरी करनेवाले पागल बहुधा अनावश्यक, अल्प-मूल्य वस्तुएं चुराते हैं, और उन्हें पीछे कहीं फेंक देते हैं। अन्य पागल कहीं आग लगा देते हैं, अथवा किसी को या स्वयं अपने आपको ही चोट पहुँचाते हैं।

अपराध-मूलक पागलपन के विशेष रूप—ऊपर कुछ बातें साधारण पागल अपराधियों के सम्बन्ध में कही गई हैं। अब अपराध-मूलक पागलपन के कुछ विशेष रूपों पर विचार करते हैं। उदाहरणवत् मदिरा-पान ❀ का विषय लेते हैं। आकस्मिक मदिरा-पान से शान्त स्वभाव वाला और ईमानदार आदमी भी बदमाश, चोर और हत्यारा हो सकता है। जो आदमी मदिरापान के अभ्यस्त होते हैं, उनमें कुछ विशेष चिन्ह मिलते हैं, उदाहरणवत् क्रियाशीलता का कम होना, पुतलियों की असमानता

❀ अन्य मादक पदार्थों का प्रभाव भी कुछ कम-ज्यादा इसी प्रकार का होता है।

स्पर्श या कष्ट के ज्ञान की कमी। उन्हें बहुधा भयानक और गन्दे विषयों के चित्र से दिखाई दिया करते हैं। वे प्रायः सुस्त, बेपरवाह और चिड़चिड़े हो जाते हैं। उनकी काम-विषयक वासनाएँ उत्तेजित हो जाती हैं। वे दुराचार या व्याभेचार की ओर प्रवृत्त होते हैं। नशे की हालत में सुख-स्वप्न देखने के कारण, वे प्रायः अपने घर वालों से बहुत असन्तुष्ट और निराश से रहते हैं, और आवागमन करने लगते हैं। निरन्तर मदिरा-पान करने वालों की स्मरण-शक्ति कम हो जाती है, जवान लड़खड़ाने लगती है, विचार अस्पष्ट और निर्णय भ्रम-मूलक हो जाता है, किसी कार्य में लगातार लगे रहना उनके लिए कठिन क्या लगभग असम्भव हो जाता है। उनको, कल-कारखाने में मशीन से काम करने की क्षमता बहुत कम हो जाती है।

हिस्टीरिया या उन्माद—वह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक, प्रायः १ और २० के अनुपात से, होता है। इसका कारण मस्तिष्क-दोष या कभी-कभी आनुवंशिक होता है। बहुधा इसका सम्बन्ध यौन विकार या कामोत्तेजक भावना से होता है। इसके दौरे के समय रोगी को अपनी या पराई सुध-बुध बहुत कम रहती है। और, वह नाना प्रकार के अपराध-मूलक कार्य करता है। दौरे के समय के अतिरिक्त, उसकी क्रियाएँ, बात-व्यवहार साधारण व्यक्तियों की भांति होती हैं। हमने देखा है कि हिस्टीरिया की अवस्था में एक स्त्री को भागने की इच्छा होती थी, उसे इस बात का कुछ अनुमान नहीं होता था कि वह कहां जाना चाहती है, वह गिरती थी, रास्ते में मिलनेवाली चीजों से चोट खाती थी, परन्तु सिवाय बहुत अधिक चोट लगने की दशा के, उसे बार-बार दौड़ने में ही आनन्द आता था। वह औरों को या स्वयं अपने आपको थपड़ मारती, या बाल नोचती या कपड़े फाड़ती थी। इन कामों में उसे इनके परिणाम अर्थात् लाभ-हानि का कुछ विचार नहीं होता था। वह इन्हें केवल अपनी तत्कालीन क्षणिक संतुष्टि के लिए करती थी।

२—साधारण अपराधी—साधारण अपराध-रोग की प्रवृत्ति बहुत कम मात्रा में होती है। बिना विशेष या पर्याप्त कारण के, वह प्रकाश में नहीं आती। स्वस्थ वातावरण, सावधानता-पूर्वक शिक्षण, परिश्रम के अभ्यास, तथा नैतिक भावों के प्रचार से ये व्यक्ति अनुचित या अपराध-मूलक भावनाओं के शिकार होने से उस समय तक बचे रह सकते हैं, जब तक कि अपराध करने के लिए इन्हें कोई विशेष प्रलोभन न मिले, या मजबूरी न हो।

ऐसे व्यक्ति अपने प्रारम्भिक अपराध-कार्य अपेक्षाकृत बड़ी आयु में करते हैं। और, उन्हें उनके करने में बहुत संकोच या अनिच्छा अथवा अरुचि सी रहती है। वे बहुधा अपना अपराध स्वीकार करने के लिए सुगमता-पूर्वक प्रेरित किए जा सकते हैं। अपमान किए जाने पर उन्हें बहुत रंज, लज्जा और पश्चात्ताप होता है, और इसके परिणाम-स्वरूप वे कभी-कभी रुग्ण हो जाते हैं, और कुछ दशाओं में मर भी जाते हैं। उनमें वत्सलता, स्नेह, बन्धुभाव आदि गुण सर्व-साधारण की तरह होते हैं।

ये अपराधी, समाज की सभी श्रेणियों के होते हैं, और इनके अपराध भी विविध प्रकार के हुआ करते हैं। इनके अपराध की गुरुता यह सूचित नहीं करती कि उसके करने वाले में अपराध-प्रवृत्ति अधिक है, वरन् उससे केवल यह प्रतीत होता है वह बहुत साधन-सम्पन्न है, और उसकी संस्कृति और योग्यता ने उसके अपराध करने के अवसर और उपाय बढ़ा दिए हैं।

३—अभ्यस्त अपराधी—जेल आदि के पतनकारी प्रभाव, अपराधियों की संगति, अथवा मादक द्रव्यों के सेवन से आदमी अभ्यस्त अपराधी बन सकते हैं, जो नियम भंग करने को ही अपना पेशा या धन्धा मानते हैं। इनमें गोदना, सुस्ती और गंवारू भापा का प्रयोग आदि क्रमशः बढ़ता जाता है।

४—आकस्मिक अपराधी—जो आदमी संयोग-वश कानून-भंग करते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं:—(१) संयोग से अनिच्छा-पूर्वक आग

लगाने आदि के दुष्कृत्य करने वाले । इनका यह कार्य इनकी असावधानी या अदूरदर्शिता आदि से हो जाता है । यद्यपि ये वास्तव में अपराधी नहीं होते, पर इनके द्वारा दूसरों की क्षति तो होती ही है, जिसकी पूर्ति करने के लिए ये कानून से बाध्य किए जाते हैं । (२) ऐसे व्यक्ति जो प्रचलित लोकमत या विश्वासों की दृष्टि से अपराधी माने जाते हैं, उदाहरणतः बुरी भाषा का प्रयोग करने, राज्य-विरोधी लेख लिखने, और मद्यपान करने वाले, या साधारण नियमों की अवहेलना करने वाले ।

५—भावुक अपराधी—कुछ आदमी अपनी प्रबल भावनाओं वश, प्रसंग उपस्थित होने पर, अपराध करने को विवश हो जाते हैं । कभी-कभी कोई व्यक्ति अपने प्रेमी या प्रेमिका का अपमान, अनादर, या बेइज्जती करनेवाले को मार डालता है, अथवा कुछ दशाओं में अपने उस प्रेमी या प्रेमिका को ही मार डालता है, जिसने किसी दूसरे को अपना प्रेमी भाजन बना लिया हो । ऐसे अपराधी अपना दुष्कृत्य प्रायः बिना विचार किए, अकस्मात् और खुल्लमखुल्ला किया करते हैं, और उसके बाद, कुछ दशाओं में, आत्म हत्या करते हुए अथवा पश्चाताप का जीवन व्यतीत करते हुए देखे जाते हैं । अनेक बार ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि जब सामाजिक बन्धनों के कारण, प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे के साथ विवाह नहीं कर सकते तो वे उन रिश्तेदारों या विरादरी वाले लोगों को मारने का प्रयत्न करते हैं, जो उनके विवाह-सम्बन्ध में बाधक होते हैं । कभी-कभी वे अपने प्रेम-पात्र को ही अपनी भावुकता और उत्तेजना की बलि चढ़ाते हैं ।

रंगून के जनरल अस्पताल में एक ३० वर्षीय चीनी युवक और एक १७ वर्षीय चीनी युवती घायल अवस्था में देखे गए । उनके शरीरों पर ६-६ घाव थे । कहा जाता है कि उक्त युवक और युवती परस्पर विवाह करना चाहते थे—परन्तु वे विभिन्न जातियों के थे । समाज ने उनके प्रेम-विवाह पर आपत्ति की । फल-स्वरूप दोनों ने एक दूसरे को मारने का

निश्चय किया। युवक ने युवती को, और युवती ने युवक को, चाकू से घायल किया।

जब कोई भावुक व्यक्ति हत्या करने पर उतारू हो जाता है, उसके क्रोध और उत्तेजना आदि के कारण उसकी विचार-शक्ति जाती रहती है, वह अपने आपे से बाहर हो जाता है, वह अपनी मानसिक या शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण करने में असमर्थ हो जाता है, उस समय वह ऐसी बात की किंचित परवाह नहीं करता कि उसके कार्य का स्वयं उसके लिए क्या परिणाम होगा। वह उस कार्य को करने के समय, कुछ देर के लिए तो अवश्य ही अपने सिर पर कफन बांध लेता है। ऐसा व्यक्ति प्राण-दण्ड आदि के भय से अपना हिंसक मनोरथ पूरा करने से नहीं रुक सकता।

यहां अपराधियों के कुछ खास भेद ही बताए गए हैं, यह वर्गीकरण अवश्य ही अपूर्ण है, तथापि इससे इस विषय का विचार करने में कुछ सुगमता होगी।

—:ॐ:—

सत्ताइसवां परिच्छेद अपराधियों की जांच

—:०:—

वैज्ञानिक जांच की आवश्यकता—वास्तविक अपराध-चिकित्सा के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि अपराधी की वैज्ञानिक जांच की जाय; उसकी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति कैसी है, उसकी अपराध करने की प्रवृत्ति कैसी है, आरोपित अपराध का

वह कहाँ तक उत्तरदायी है, उसका सुधार कैसे हो सकता है। इस प्रकार की जाँच से न्यायाधीश को तो अपना निर्णय सुनाने के लिए उचित आधार मिलेगा ही; इसके अतिरिक्त इससे अपराधी की चिकित्सा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने, और उसकी यथा-सम्भव वैज्ञानिक चिकित्सा करने में भी सहायता मिलेगी। अवश्य ही यह जांच अनुभवी शरीर-शास्त्र और मनोविज्ञान के आचार्यों तथा अपराध विषय के विशेषज्ञों द्वारा की जानी चाहिए।

जांचका दृष्टान्त—शारीरिक रोगों की चिकित्सा के लिए वैज्ञानिक जांच का महत्व बहुत समय से स्वीकार किया जा चुका है, और अब इस ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है। उदाहरण के लिए जब कोई रोगी किसी होम्योपैथिक डाक्टर के पास जाता है, तो डाक्टर केवल रोग को जानकर ही उसकी औषधि निर्धारित नहीं कर देता। वह रोगी को यथा-सम्भव समझने की कोशिश करता है, उसका पूर्व इतिहास अधिक से अधिक जानने का प्रयत्न करता है, रोगी को उस रोग से पहले और क्या-क्या रोग हुए थे, कौनसा रोग कैसे, कितने दिन बाद, किस चिकित्सा से, कितना घटा या बढ़ा। रोगी को किस प्रकार का भोजन रुचिकर है, उसकी प्रकृति या मिजाज कैसा है, उसकी भूख-प्यास और पाचन शक्ति कैसी है, उसको किन बातों से आनन्द तथा विश्राम मिलता है या मनोरंजन होता है। इस प्रकार की बहुत सी जिज्ञासा कर चुकने पर, जब वह अपने प्रश्नों के उत्तर से संतुष्ट हो जाता है, तब वह यह समझता है कि वह रोग का निदान कर सका। तदुपरान्त ही वह औषधि का, जो बहुत थोड़ी मात्रा में होती है, निर्णय करता है। और हाँ, प्रायः औषधि की मात्रा इतनी अल्प होती है कि रोगी को वह मालूम ही नहीं होती। अपराध-चिकित्सा के लिये अपराधी को उपर्युक्त प्रकार की गहरी जांच होने की अनिवार्य तथा सर्व-प्रथम आवश्यकता है।

विचारणीय बातें; पूर्व इतिहास और मनोवैज्ञानिक

स्थिति—बहुधा अपराधी के रिश्तेदारों या मित्रों से पूछकर यह मालूम किया जा सकता है कि उसका पिछला जीवन कैसा रहा है, उसने कैसे वंश में जन्म लिया है, उसे कैसी और किन-किन संस्थाओं में शिक्षा पाने का अवसर प्राप्त हुआ है, वह अपने छात्र जीवन में कैसा प्रतीत हुआ, घर में उसका कैसा हाल रहा, उसके माता-पिता तथा अन्य निकट सम्बन्धियों का उसके साथ, तथा परस्पर में एक दूसरे के साथ, कैसा व्यवहार रहा। अपराधी को बचपन में कैसी-कैसी बीमारी हुई। उसके परिवार में अधिकतर किन बीमारियों का प्राबल्य रहा, कोई स्नायु रोग तो नहीं हुआ, या मादक द्रव्यों के सेवन से होनेवाले पागलपन की प्रवृत्ति तो नहीं रही। इस बात की जांच और भी अधिक महत्व की है कि उसके परिवार में अपराध कहां तक हुआ है।

दूसरी बात यह मालूम करने की है कि अपराधी अविवाहित है, या विवाहित; यदि वह विवाहित है तो क्या उसकी पत्नी जीवित है। कुछ पेशों का भी मनुष्य पर खास तरह का असर पड़ता है। अतः अपराधी के विषय में जानना चाहिए कि उसे किस उद्योग-वन्धे या पेशे की कैसी और कितनी शिक्षा मिली या नहीं मिली। यदि उसने कहीं काम किया तो उस अवधि में उसका व्यवहार कैसा रहा, उसके मित्र, उसकी आकांक्षाएं और उसके आदर्श कैसे रहे। जहां-जहां वह रहा, वहां का सार्वजनिक जीवन कैसा था। वर्ष के किस समय, ऋतु या परिस्थिति में अपराध हुआ है, यह बात भी ध्यान देने की है।

अपराध की पुनरावृत्ति करनेवालों के विषय में यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने प्रथम अपराध कब, कितनी उम्र में, किस परिस्थिति में किया। बालिग, और वृद्ध कुछ पृथक्-पृथक् प्रकार के अपराध किया करते हैं; इसी प्रकार निर्धन और धनवानों के अपराध भी अपने-अपने ढंग के होते हैं।

ज्ञान—यह जानना चाहिए कि अपराधी में प्रेम आदि की भावना कितनी है, भिन्न-भिन्न चित्त-वृत्तियों का चेहरे पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार की जांच के लिए योरोप में एक अच्छा यंत्र बन गया है। मानसिक विकार वालों को अच्छी निद्रा नहीं आती, उन्हें तरह-तरह के बुरे दृश्य दिखाई दिया करते हैं। यह भी विचारणीय है कि अपराधी पर दूसरों के सुझाने-बुझाने का क्या असर पड़ता है। हिस्टीरिया आदि कुछ रोगों के रोगी इस विषय में नादान बच्चों के समान होते हैं, जिनमें स्वतंत्र चिन्तन नहीं होता।

बोली—वह देखना चाहिए कि अपराधी, प्रश्नों का उत्तर किस प्रकार देता है; उसका उच्चारण कैसा है, उसकी जवान में तुतलाहट या हकलापन तो नहीं है। उससे कठिन शब्दों का उच्चारण कराने से यह जांच हो सकती है। वैज्ञानिक उन्नति वाले कुछ देशों में ऐसी जांच का परिणाम ग्रामोफोन में अङ्कित कर लिया जाता है, जिससे पीछे भी उस पर विचार किया जा सके।

स्मरण-शक्ति आदि—अपराधी से, उससे सम्बन्ध रखने वाली, वर्तमान तथा भूत काल की घटनाओं के विषय में प्रश्न किये जाने चाहिए, यथा,—तुमने कल शाम खाने को क्या खाया था, तुम्हें बीमारी हुए कितना समय हुआ, (अगर उसके कोई सन्तान हो तो) तुम्हारी सन्तान का जन्म कब हुआ था। अपराधी को कई एक अक्षरों या शब्दों वाला कागज कुछ सेकिंड तक दिखा कर उसे पूछा जाय कि उसने क्या-क्या देखा। इसी प्रकार अपराधी की स्पर्श-शक्ति और श्रवण-शक्ति आदि का, विविध प्रयोगों द्वारा, ठीक-ठीक अनुमान करने में सहायता मिल सकती है !

लिखावट—लिखावट की जांच से भी यह जानने में सहायता मिलती है कि कोई व्यक्ति अपराधियों की किस श्रेणी का है। इसके लिए

हस्ताक्षर कराना या दो-एक पंक्तियाँ लिखाना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इसमें वह ध्यान जमा कर कार्य करेगा, वह विशेष सावधान रहेगा। अपराधी से जल्दी-जल्दी एक-दो पृष्ठ लिखाए जाने चाहिए। मद्यपान तथा लकवे वाले को लिखने में कपकपी होने लगती है, जैसी प्रायः बुढ़ापे में हुआ करती है। मृगी या उन्माद रोग के दौरों के बाद भी ऐसी दशा होती है। कुछ देशों में एक विशेष प्रकार की कलम ('पेन') का उपयोग किया जाता है, उससे हाथ की तनिक सी भी कपकपी स्पष्ट हो जाती है।

बख्साभरण—हत्यारे, उन्मादी, और नैतिक दृष्टि से पागल व्यक्ति जो प्रायः एकान्त जीवन बिताने वाले होते हैं, अपने वेप-भूषा की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, और बहुधा मैले-कुचैले रहते हैं। सिड़ी और पागल भी ऐसा ही करते हैं। इसके विपरीत, धोखेबाज या ठग प्रायः खूब बन-ठन कर रहते हैं।

शारीरिक जांच—कुछ विद्वानों ने, जिन्होंने अपराध-शास्त्र के साथ-साथ शरीर-विज्ञान का भी यथेष्ट अध्ययन और अनुभव किया है, अपना मत इस विषय में व्योरेवार दिया है कि अपराधियों की शारीरिक जांच किस प्रकार की जानी चाहिए। उन्होंने बतलाया है कि चर्म रोगों से, या भुर्रियों आदि चर्म सम्बन्धी चिन्हों से, दाढ़ी से, और शरीर पर गोदे हुए संकेत या चित्रादि के अवलोकन से अपराधी के बारे में यह अनुभव किया जा सकता है कि वह किस प्रकार के अपराधों की प्रवृत्ति वाला है। उन्होंने यह भी लिखा है कि अपराधियों की ऊंचाई और वजन का, तथा चेहरे, खोपड़ी, आंख, कान, हाथ तथा हथेली, और पांवों की बनावट का सम्यक निरीक्षण करके, और आधुनिक सूक्ष्म यंत्रों से नाप-तोल करके यह अनुमान किया जा सकता है कि कोई व्यक्ति जन्म-जात अपराधी है या साधारण, एवं वह किस खास प्रकार के अपराधों की ओर विशेष प्रवृत्त है। विस्तार-भय से हम इस विषय में विशेष न लिखकर संकेत मात्र से ही संतोष करते हैं।

जांच का उपयोग—अपराधियों की ओर थोड़े ही वर्षों से ध्यान दिया जाने लगा है। जिन महानुभावों ने इस विषय के मानव-ज्ञान के बढ़ाने में परिश्रम किया है, वे बधाई और धन्यवाद के अधिकारी हैं। तथापि, हमें स्मरण रखना चाहिए कि अभी तक के प्रयोग अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों ने किए हैं, और उनके अनुभव विशेषतया उनके देश-काल की स्थिति के आधार पर हैं। अतः सम्भव है, उनमें सार्वभौमिक सत्यता न हो। आवश्यकता है कि इस विषय के प्रयोग व्यापक आधार पर किए जायँ, भिन्न-भिन्न देशों की विविध जातियों की शारिरिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति को लक्ष्य में रखा जाय। यह कार्य बहुत धैर्य, श्रम और त्याग का है, पर मानव-हित के लिए इसकी उपयोगिता भी महान है।

खर्च का प्रश्न—यह कहा जा सकता है कि अपराधियों के विषय में ऐसी जांच करने के लिए तो बहुत से, तथा बहुत योग्य आदमियों की आवश्यकता होगी, उनके लिए बहुत खर्च करना पड़ेगा। परन्तु तनिक गम्भीर विचार करने पर यह ज्ञात हो जायगा कि यह खर्च इतना अधिक नहीं होगा, जितना प्रतीत होता है। और, जब हम यह सोचते हैं कि इससे राज्य की अनेक मदों में कुछ वचत भी तो हो जायगी, और नागरिकों का सुधार होगा, तो यह खर्च कुछ भी विशेष नहीं मालूम होता। पाठक तनिक विचार करें, आजकल भी अपराधियों के विषय में राज्यों को कितना अधिक खर्च करना पड़ता है, वे कितनी पुलिस, कितनी अदालतें, कितने जासूस, जेलर तथा कैदखानों के अन्य कर्मचारी रख रहे हैं। पुनः वर्तमान शासन-प्रणाली में प्रत्येक राज्य के कितने नागरिक अनुत्पादक कार्यों में अपनी शक्ति और समय नष्ट कर रहे हैं, वह भी तो विचारणीय है। अदालतों में जाकर देखो, गवाहों के झुंड के झुंड को, मानों अदालत के काम के सिवाय और कुछ काम ही नहीं रहा है। प्रत्येक बड़े नगर में कई-कई दर्जन मुख्त्यार, वकील, बेरिस्टर और सालिसिटर

तथा उनके मोहर्षि नये-नये अपराधी-शिकारों को फंसाने के सिवाय और क्या करते हैं ! इनकी विद्वत्ता और योग्यता से नागरिकों में कौनसी ऊंची भावनाओं का उदय होता है ? यह ठीक है कि इनके वास्ते सरकारी खजाने से कुछ खर्च नहीं होता, और ये जनता के रुपए से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते, तथा सरकार को भी आमदनी कराते हैं, परन्तु क्या यह वास्तव में राज्य में लिए क्षतिकारक नहीं है ?

यदि अपराधियों की वैज्ञानिक जांच के फल-स्वरूप राज्य की यह भयंकर क्षति रुक जाय, या कम हो जाय, यदि इससे नागरिकों के नैतिक, तथा आर्थिक उत्थान में सहायता मिले, तो कुछ अधिक व्यय-साध्य होने पर भी, हम इस प्रणाली को मंङ्गा नहीं समझते । और हाँ, यह भी तो सम्भव है कि आरम्भ में कुछ समय तक ही व्यय अधिक हो, पीछे इसके अनुसार कार्य चलता रखने में विशेष व्यय का प्रश्न ही न उठे ।

अपराधियों की पहिचान—यह तो सब जानते हैं कि अपराधियों के लिए एक जगह से दूर दूसरी जगह जाकर रहने लगना, अथवा उसे भी बदल देना, नये नाम से काम करना, पिता और जाति का नाम भी असत्य बतलाना तो मामूली बात है । चेहरे की आकृति बदलने में भी कुछ आदमी बड़े कुशल होते हैं । दाढ़ी और मूँछों में इच्छानुसार परिवर्तन करके, बालों की काट में अन्तर करके, या उनका रंग बदल कर भी दूसरों को सहज ही धोखा दिया जा सकता है । कपड़े भी तरह तरह के पहने जाते हैं, जिससे लोगों को अपराधी का देश या प्रान्त निश्चय करने में बड़ा भ्रम हो जाता है । कुछ समय से अंगूठे के निशान लेने का बड़ा उपयोग हो रहा है; परन्तु यह कार्य बहुत कठिन है, और कुछ दशाओं में तो असम्भव ही होता है ।

इन बातों को लक्ष्य में रख कर नये अनुसंधान किये जा रहे हैं । उदाहरणवत् पाश्चात्य देशों के कुछ खास-खास नगरों के खुफिया विभाग के कर्मचारी, अपराधियों का पता लगाने के लिए अब कानों का चित्र

उतारने लगे हैं। शरीर-शास्त्र-वेत्ताओं का अनुभव है कि संसार के किन्हीं दो मनुष्यों के कान एक समान नहीं होते, और न एक मनुष्य के दोनों कानों की बनावट ही समान होती है। जांच करने की इस प्रथा में एक विशेषता यह है कि चतुर जासूस किसी व्यक्ति के कान की तसवीर सड़क पर चलते-फिरते उतार सकता है, और किसी व्यक्ति के लिए कान को बदल देना सम्भव नहीं है, जब तक कि वह उन्हें कटवा न डाले। अतएव यदि किसी अपराधी के कानों की तसवीर एक बार पुलिस के दफ्तर में पहुँच गई, फिर दूसरी बार अपराध करने पर उसकी गिरफ्तारी बहुत ही साधारण बात हो जायगी।

अपराधियों की खोज—जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, इस समय अपराधी-वर्ग सभ्यता और विज्ञान-जनित साधनों से अधिकाधिक सुसज्जित होकर अपने दुष्कृत्यों का सम्पादन करता है। इसमें संतोष की बात यह है कि वे ही साधन उसके मार्ग में सबसे अधिक बाधाक भी प्रमाणित हो रहे हैं। तार, टेलीफोन, मुद्रण-यंत्रालय, मोटर-साइकल, मोटरकार, और फोटो लेने के यंत्रादि की सहायता से साधारण तथ खुफिया पुलिस कभी-कभी ऐसे अपराधियों का पता लगाती है, जिनकी खोज की, अन्य प्रकार से प्रायः आशा नहीं हो सकती। उन्नत देशों में अपराधान्वेषण के लिए अधिकारियों को ये सब सुविधाएं दी जाती हैं, जो इस समय की उन्नत अवस्था दे सकती है। उन्हें पकड़ने के लिए भी कुछ विशेष प्रकार की योजनाएं हैं। भारतवर्ष में उनका सूत्रपात किया जा रहा है। आशा है कि पुलिस अपराधियों को आसानी से पकड़ सकेगी।

अस्तु, उन्नत राज्यों में उस भविष्य के आगमन की सम्भावना है, जब अपराधियों की जांच, खोज, और गिरफ्तारी सुगमता-पूर्वक हो सकेगी, जिसके फल-स्वरूप उनकी चिकित्सा में यथेष्ट सहायता मिलेगी।



अठाइसवाँ परिच्छेद

अपराधी—सुधारक संस्थाएं

—:०:—

‘मेरे अपराध-रोग को लोग संक्रामक समझते हैं ।.....मैं तड़पता रहता हूँ, हमदर्दी और प्यार की दवा के लिए; पर वे सब दूर से ही दुत्कार देते हैं । दया कर कोई मुझे वह एक ही सुराक दवा दे दे, मैं अभी अच्छा हो जाऊँ । पर देगा कौन ? सभी तो घिनाते हैं । हाय री हृदय-हीनता !’

— वियोगी हरि

जैसा कि पहले कहा गया है, अपराध-निवारण के विविध उपाय काम में लाने पर भी, अपराधियों का अस्तित्व थोड़े-बहुत परिमाण में बना रहने वाला है । और, यह उचित नहीं है कि उन्हें स्वच्छंद अपराध करने दिया जाय, और समाज सर्वथा अग्नित रहे । अतः यह आवश्यक है कि ऐसी संस्थाएं पर्याप्त संख्या में हों, जिनसे होने वाली हानि न्यूनतम हो, तथा जो अधिक से अधिक लाभकारी प्रमाणित हों ।

जेल या अस्पताल—हम पहले बता आए हैं कि अपराध भी एक प्रकार के रोग हैं । ये प्रायः मानसिक विकारों या बुरी आदतों आदि के परिणाम-स्वरूप होते हैं । पर, हम प्रति दिन देखते हैं कि रोगियों को अस्पतालों में भेजा जाता है, न कि जेलों में । फिर, अपराध-रोगियों के लिए जेलों की व्यवस्था क्यों की जाती है ? इनके वास्ते नीति के डाक्टर

और नीति के अस्पतालों की व्यवस्था होनी चाहिए। आधुनिक जेलों में आमूल सुधार होने की आवश्यकता है।

जेलों का सुधार—हर्ष का विषय है कि जेलों के सुधार की ओर मानव-समाज-सेवियों का ध्यान आकर्षित होता जा रहा है। कुछ स्थानों में अब पहले की सी वर्चस्व तथा अमानुषिकता नहीं रही है। वहाँ कैदियों को मिलनेवाले भोजन वस्त्रादि सम्बन्धी नियम, अब स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से बनाए जाते हैं। उन्हें यथेष्ट स्वतंत्रता और सुविधाएँ दी जाती हैं। जेल के रंग-ढंग में क्रमशः बहुत अन्तर होता जा रहा है।

कुछ समय हुआ, इंग्लैंड में जेल-कमिश्नरी ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में लिखा था कि जेल-विभाग को ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि कैदी सच्चे और अच्छे नागरिक बन सकें। इससे कैद खाने का सिद्धान्त ही बदल गया। जेल के अन्दर सुधार-कार्य शुरू किया गया। लोक-सेवा के भाव से प्रेरित होकर बहुत से आदमियों ने जेल के कैदियों का निरीक्षक होना स्वीकार किया। पहले कड़े अनुशासन का राज्य था। अब उसके बजाय कैदी पर कुछ जिम्मेदारियाँ डाली जाती हैं ताकि वह जिम्मेदार व्यक्ति बन सके।

भारतवर्ष में प्रथम (‘ए’) श्रेणी के तथा कुछ अंश में द्वितीय (‘बी’) श्रेणी के कैदियों की भी दशा कुछ अच्छी रहने लगी है। वास्तव में, जैसा कि पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने लिखा है, जेलों के सुधार के प्रश्न का अर्थ होता है, जाबता फौजदारी का सुधार, और इससे भी ज्यादा न्यायाधीशों की मनोवृत्ति का सुधार, जो अब भी सौ वर्ष पहले के तरीके पर सोचते हैं, और दण्ड तथा सुधार के आधुनिक विचारों से आनन्द-पूर्वक अनभिज्ञ हैं। अब भारत स्वतंत्र हो गया है, अधिकारियों को चाहिए कि जल्दी आवश्यक सुधार करें। आगे हम कुछ देशों के नये ढंग के जेल आदि का परिचय देते हैं, जो कुछ समय पहले का होने पर भी बहुत वेचारणीय है।

बर्मिंघम जेल में सामाजिक वृत्ति—सन् १८४६-५१ में बर्मिंघम जेल में, कैदियों में सामाजिक वृत्तियों को बढ़ाने के लिए आठ-आठ आदमियों का एक दल बनाया गया था। इन्हें नेकचलनी या नियम पालन के जो नम्बर दिए जाते थे, उन्हें इकट्ठा गिना जाता था और उसके अनुसार दल के सब आदमियों से समान व्यवहार किया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि दल में जो कैदी अच्छा व्यवहार नहीं करता था, उस पर शेष सातों साथी दबाव डालते थे, और साथ ही मदद करते थे कि वह सुधर जाय। यदि वह नहीं सुधरता था तो उसके साथी उसे अपने दल से अलग करने का विचार करते थे, जिससे उसके कारण दूसरों की हानि न हो, और सबके नम्बर बढ़ें। एक दल से निकाले हुए व्यक्ति को कोई दूसरा दल लेने को तैयार नहीं होता था, इसलिए दल का प्रत्येक व्यक्ति अपना आचरण सुधारने का अधिक से अधिक प्रयत्न करता था। ऐसे प्रयोग का लाभकारी होना स्पष्ट ही है।

‘बोस्टल’—नवयुवक अपराधियों में ज्यादातर इस लिए अपराध करते हैं, कि वे बेकार होते हैं और कुसंगत में पड़ जाते हैं। ऐसे लड़के या लड़कियों का, केवल कड़े अनुशासन से या कोरे नियमों के पालन से क्या सुधार हो सकता है ! इस बात का क्रियात्मक विचार पहले इंग्लैंड में हुआ। वहाँ के बोस्टल गांव में १६ से २१ वर्ष तक की उम्र के लड़कों को रखने के लिए एक जगह बनाई गई थी। इसका उद्देश्य उनका सुधार करना था, सजा देना नहीं। जब इस प्रकार की संस्थाएं अन्य स्थानों में खोली गयीं, तो उन्हें भी ‘बोस्टल’ कहा जाने लगा। बोस्टल का उद्देश्य यह होता है कि अपराधियों में अच्छी भावनाएं जगायी जायँ, जिससे वे स्वावलम्बी और नेकचलन बनें। वहाँ हर एक लड़के पर अलग-अलग ध्यान दिया जाता है।

इंग्लैंड के बोस्टल—सभी जवान लड़के एकसे नहीं, होते और न

सबको एकसे बर्ताव से सुधारा जा सकता है। इसलिए इंग्लैंड में कई 'बोस्टल' खोल दिए गए हैं। लड़कों को बर्मबुडस्कब्स और लड़कियों को आयन्सबेरी भेजा जाता है, वहाँ उनकी अच्छी तरह देखभाल होती है। और यह निश्चय किया जाता है कि कौनसे अपराधी अधिक उम्र के या अधिक बिगड़े हुए हैं, कौनसे बीच की अवस्था के हैं, किनके सुधरने की आशा सबसे अधिक है, और किनके सुधरने की आशा तो अच्छी है, किन्तु मानसिक दशा अच्छी नहीं। इन विचित्र प्रकार के अपराधियों को अलग-अलग स्थानों के बोस्टलों में भेजा जाता है। बोस्टल में रखे जाने की कम-से-कम मियाद दो वर्ष और अधिक-से-अधिक तीन वर्ष है, परन्तु यदि अपराधी का चाल-चलन ठीक रहे तो लड़के को छः माह बाद, और लड़की को तीन माह बाद लाइसेन्स पर छोड़ा जा सकता है।

बोस्टल में रहने वालों को खेती या दस्तकारी आदि की शिक्षा के अतिरिक्त मानसिक, शारीरिक, नैतिक और सामाजिक शिक्षा दी जाती है। शिक्षा का कोई निर्धारित तरीका नहीं है, उसमें अधिकाधिक उन्नति हो रही है। जेल के कानून और नियम बोस्टल पर भी लागू हैं, परन्तु इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में बहुत भेद है। बोस्टल का फाटक दिन भर खुला रहता है, और काम या खेल के समय लड़के चारदिवारी के भीतर नहीं रखे जाते।

जिन कैदियों की सजा की अवधि थोड़ी होती है, उनके सम्बन्ध में अधिक कुछ करना सम्भव नहीं है। लम्बी सजा वाले कैदियों के ही सुधार का काम हाथ में लिया जा सकता है। कैदियों की श्रेणियाँ बना दी जाती हैं। जैसे ही कोई कैदी जेल में प्रवेश करता है, उसे यह अनुभव कर दिया जाता है कि वह बहुत हद तक, अपना उद्धार स्वयं कर सकता है। हर एक कैदी के सामने बहुत से सुअवसर होते हैं। जितना अच्छा वह व्यवहार करता है और जितना परिश्रम वह करता है, उतना ही वह

आत्म-गौरव तथा स्वतंत्रता प्राप्त करता है। जेल के 'पुस्तकालयों' की दशा में भी बड़ी उन्नति हो गई है। कैदियों को किताबें भी पहिले से अधिक स्वतंत्रता-पूर्वक दी जाती हैं। कुछ जेलखानों में कैदियों के रिश्तेदार किताबें जमा कर सकते हैं; जेल का 'चैपलेन' उन्हें देखकर कैदी को देदेता है। बहुत से कैदी अपना समय कुछ खास विषयों का विशेष अध्ययन करने या विदेशी भाषाएं सीखने में लगाते हैं।

भारत के बोस्टल—भारतवर्ष में भी कई राज्यों में बोस्टल संस्थाएं खोली गई हैं। आरम्भ में ये पंजाब और मद्रास में स्थापित की गयीं थीं। इन संस्थाओं ने बिगड़े हुए बदचलन अपराधी युवकों को सुधारने का बहुत अच्छा काम किया है। इन संस्थाओं की बहुत अधिक आवश्यकता है। अब भारत स्वाधीन हो गया है, आशा है भावी नागरिकों के सुधार तथा समाज-हित के लिए इन संस्थाओं की वृद्धि तथा उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जायगा।

कनाडा का आदर्श जेल—ऑटोरियो (कनाडा, अमरीका) के गेल्फ नगर के जेल में एक हजार एकड़ का खेत, फलों का बागीचा, ऊनी कपड़े की मिल, लकड़ी और चमड़े के कारखाने तथा पत्थर की खान है। इसमें हजार से ऊपर कैदी हैं, जिनमें से बहुत से भयंकर अपराधी हैं, सौ तो आजन्म कैदी ही हैं। ये लोग उपर्युक्त स्थानों में कोई-न-कोई काम करते हैं। जिसे जो काम आता है, उसे वही काम करने को दिया जाता है। और, जिसे ये काम नहीं आते, इनमें से कोई सिखा दिया जाता है। कैदी जो काम करता है, उसकी मजदूरी, उसके कैद से छूटने के समय तक जमा होती रहती है, या उसके घर भेज दी जाती है। प्रत्येक कैदी के रहने और भोजन करने का अच्छा प्रबन्ध है, और काम तथा मनोरंजन के काफी साधन मौजूद हैं। यह जेलखाना पैंतीस वर्ष से इसी ढंग पर चल रहा है; अब तक यहाँ कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ है। कोई

कैदी चाहे तो यहाँ से बड़ी आसानी से भाग सकता है, पर वर्ष भर में मुश्किल से एक-दो ही यहाँ से भागते हैं।

संयुक्तराज्य अमरीका की व्यवस्था—अमरीका के संयुक्तराज्यों में दंड, केवल दंड देने के लिए, नहीं दिया जाता। साधारण अपराधी जो वहकावे में आकर, बुरी संगति में पड़ कर, या ज़रूरत के फेर में लाचार होकर प्रथम अपराध कर बैठते हैं, उन्हें जेल के अन्दर नहीं रखा जाता। जेल-सहायक-विभाग ऐसे लोगों की देख-रेख के लिए अफसर रखता है। अपराधी को एक निर्धारित अवधि के लिए इन अफसरों की देख-रेख में रह कर काम करना होता है, उनकी अनुमति बिना वह नगर की सीमा के बाहर नहीं जा सकता; बस, इतना ही वह परतंत्र रहता है। चालचलन सुधरते ही, इस बन्धन से भी उसकी मुक्ति हो जाती है। अथवा, उद्दंडता दिखाने पर उसे 'कारागार' के दर्शन कराए जाते हैं। अब 'कारागार' की व्यवस्था देखिए।

यहाँ कोई अपराधी दस वर्ष से अधिक जेल में नहीं रहता। इस अवधि के बीच, उसे अपना सुधार करने का यथेष्ट अवसर दिया जाता है, और किसी कैदी के सुधार के प्रयत्न करने का प्रमाण मिलने पर, अधिकारी उसे प्रोत्साहन देने के लिए उसकी, कारागार की अवधि घटा देते हैं। कैदियों को जेल में व्यापार और कला-कोशल की शिक्षा दी जाती है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञ, कैदियों की मनोवृत्ति का अध्ययन कर उनके कुविचारों के पस्वितन करने में सचेष्ट रहते हैं, और उनकी बुद्धि तथा शक्ति के अनुसार ही उन्हें शिक्षित करते हैं। •

जेल के विशाल घेरे के अन्दर सैकड़ों की संख्या में स्वच्छ, हवादार कमरे बने रहते हैं, जिनमें से प्रत्येक में कुर्सियाँ, मेजें, अलमारियाँ सजी रहती हैं, एवं तेल, साबुन, तौलिया, कागज, पेन्सिल, जैसे आवश्यकता के सामान मौजूद रहते हैं। जेल के कमरों की ज़मीन साफ़-सुथरी रंगीन दरी से ढकी रहती है, खिड़कियों पर दूध के समान सफ़ेद पर्दे लहलहाते रहते हैं, और

कमरों की दीवारों पर देश के महापुरुषों के चित्र टंगे रहते हैं। प्रत्येक जेल में एक पुस्तकालय और वाचनालय अवश्य होता है, उनमें सभी सुरुचि-पूर्ण पुस्तकें और समाचार-पत्र रहते हैं, जिन्हें कैदी नित्य घंटों पढ़ा करते हैं। अमेरिका में कैदी को योग्यतानुसार नित्य चार-पांच घंटे काम करना होता है। सुबह नाश्ता, दोपहर का खाना, सायंकाल की चाय और रात्रि का भोजन सब समय से मिलता है। भोजन के सामान में बिस्कुट, डबल-रोटी, आलू, तरकारी, अण्डे, मांस और मक्खन सभी वस्तुएँ रहती हैं। निदान, जेलों में पौष्टिक और रुचिकर खाने का बन्दोबस्त है। वहाँ हथकड़ी-बेड़ी डालने का नियम नहीं है, खड़ी हथकड़ियों में अमानुषिक तौर से टाँगे जाने का तो वहाँ कोई नाम भी नहीं जानता।

रूस में कैदियों से व्यवहार—रूस में कैदियों से ऐसा व्यवहार किया जाता है कि वे अपने उद्धार की पूर्ण आशा और विश्वास रखते हैं। वे शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन और विश्राम के विविध साधनों से सम्पन्न रहते हैं। उनके कमरे में प्रभावकारी चित्र, तथा आस-पास प्राकृतिक सौन्दर्य के दृश्य उपस्थित रहते हैं। वे अपने मित्रों तथा बाल-बच्चों से एकान्त में मिल सकते हैं। अच्छा व्यवहार करनेवाले व्यक्ति सप्ताह में एक दिन शहर में, या अपने घर जा-आ सकते हैं। गर्मियों में उन्हें १५ दिन की छुट्टी होती है। किसान-अपराधियों को यह छुट्टी उनकी फसल के अवसर पर दी जाती है। जेल में रहते हुए वे लकड़ी लोहे का, या कपड़ा बुनने का काम सीख लेते हैं। वहाँ वे अपने परिश्रम से जो उपार्जन करते हैं, उसका एक-तिहाई उन्हें वहाँ ही खर्च करने को मिल जाता है, और उनका शेष धन उन्हें जेल छोड़ने पर दे दिया जाता है; इस प्रकार उन्हें अपने भावी जीवन में आर्थिक बाधा उपस्थित नहीं होती। उन्हें कभी हथकड़ी-बेड़ी नहीं पहराई जाती। वहाँ 'वार्डर' भी बिना हथियार के रहते हैं। कैदियों को पुस्तकालय और वाचनालय के उपयोग का अधिकार है।

वे अपना पत्र-पत्रिका निकालने, और समय-समय पर अपने घर वालों तथा इष्ट-बन्धुओं को पत्र लिखने के लिए भी स्वतंत्र होते हैं। उनके साथ कोई सख्ती-नहीं की जाती, वे सुखी और प्रसन्न रखे जाते हैं। जेल से निकलने पर वे अच्छे राजनीतिज्ञ, योद्धा, सुधारक, शिक्षक या उपदेशक आदि बनकर निकलते हैं।

स्त्री-कैदियों में जिसके बच्चा पैदा होता है, वह चाहे तो उसे रक्षण-गृह में रख सकती है, जहाँ उसकी पूरी देख-रेख की जाती है, और चाहे तो उसे अपने मकान पर छोड़ सकती है। दूसरी सूरत में माता को दिन में बच्चे को दूध पिलाने के लिए आवश्यकतानुसार घर जाने की इजाजत होती है।

कैदियों का पारस्परिक-भलाई-संघ—यहाँ एक और प्रकार की संस्था का भी परिचय देना उपयोगी होगा, जिससे कैदियों का बड़ा हित हुआ है। इस का नाम है 'कैदियों का पारस्परिक-भलाई-संघ'। यह संघ पहले पहल आर्वर्न (संयुक्त-राज्य, अमरीका) में स्थापित किया गया था। संघ का चुनाव कैदी ही करते हैं, अधिकारी उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। संघ समष्टि-रूप से प्रत्येक कैदी के व्यक्तिगत आचरण के लिए उत्तरदायी होता है। वह कैदियों को सुधारने में कटिबद्ध रहता है, उनकी नशेबाजी, गाली-गलौज तथा दुर्व्यवहार को रोकता है। इस प्रकार, इससे सुपरिन्टेन्डेन्ट तथा जेलर को अपने प्रबन्ध-कार्य में बहुत सुविधा रहती है। और, वे संघ की सहायता से कैदियों सम्बन्धी कार्य में उन्नति करते, और उन्हें अधिकाधिक सुविधाएं देते रहते हैं। ऐसा संघ स्वावलम्बन का बहुत अच्छा उदाहरण है। अपने उद्धार के लिए दूसरों के आश्रित न रह कर, जहाँ तक बन आवे, प्रत्येक वर्ग या समूह को स्वयं प्रयत्न करना चाहिए। उसके अग्रसर होने पर, अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं से सहयोग और सहायता मिलने की आशा अधिक होती है, तथा उस में सफलता भी अधिक मिलती है।

उपयुक्त योजना पर विचार—अपराधी-सुधारक संस्थाओं (नवीन ढंग के जेलों) तथा कैदियों के 'पारस्परिक भलाई संघ' से अपराधियों के सुधार तथा समाज की रक्षा का वह उद्देश्य अधिकांश में पूरा हो जाता है, जिसे आजकल जेलखाने की पद्धति पूरा करने का दम भरती है, परन्तु जिसे पूरा करने में वह बुरी तरह असफल रहती है। यों तो मनुष्य की बनाई किसी योजना के सम्बन्ध में पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता, उसमें सुधार और विकास की गुंजायश सदैव रहती है; तथापि यह कहा जा सकता है कि यदि नवीन योजना से सौ फीसदी सफलता न भी हो तो कम से कम उस को व्यवहार में लाने से, समाज वर्तमान दंड-विधान की लगभग सौ प्रतिशत विफलता से होने वाले दुष्परिणाम से तो बच ही जायगा।

कुछ आदमियों को यह आशंका हो सकती है कि जेलों में सुधार होने से, कैदियों को अधिक सुविधाएं और आराम मिलने से प्रत्येक स्थान में कैदियों की संख्या बेहद बढ़ जायगी। निस्संदेह गत वर्षों में रोटी-कपड़े के अभाव के कारण भयंकर कष्ट पाने वाले कुछ आदमियों के कभी-कभी जेल जाने की उत्सुकता के, उदाहरण मिलते रहे हैं। परन्तु ऐसी बात उसी समय होती है, जब राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था चिन्तनीय हो। स्वाभाविक स्थिति में कोई आदमी अपनी स्वतंत्रता, पारिवारिक जीवन, अपने स्थान के निवास और सुपरिचित व्यक्तियों की संगति आदि के सुख का त्याग करना नहीं चाहता। अस्तु, अच्छे व्यवहार से जेलों के ठसाठस भरने का भय निर्मूल है; हाँ लोगों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी होनी चाहिए, जैसा कि स्वराज्य और मुशासन में होती ही है।

सरकारों का कर्तव्य—वर्तमान दशा में राष्ट्र के प्रायः सब कामों में सरकार की सहायता की जरूरत होती है। उसके मिल जाने से कार्य की गति तीव्र हो जाती है, उस में सफलता भी जल्दी मिल जाती है। फिर अपराधों का विषय तो प्रायः राज्य के ही नियंत्रण में रहता है। इस लिए

इस विषय में किसी नयी योजना को कार्य में लाना बहुत कुछ उसी पर निर्भर है। समय-समय पर शासकों में ऐसे विचारशील सज्जन मिल जाते हैं जो अपराधियों पर जोर-जुल्म करने की अपेक्षा उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार करने, तथा उनकी वैज्ञानिक चिकित्सा कराने के पक्ष में होते हैं। किन्तु ऐसे भावों को वे बहुधा कार्य में परिणत नहीं करते। यदि वे चाहें तो अपने शासनकाल में, अपने क्षेत्र में इस विषय का बड़ा प्रशंसनीय और अनुकरणीय कार्य कर सकते हैं। परन्तु प्रायः वे अपना कर्तव्य केवल मौखिक सहानुभूति दर्शाने तक ही समझते हैं। वे इस महान कार्य का भार सुधारकों के कंधों पर पटक देते हैं। वे भूल जाते हैं कि जनता के आदमी तो सरकार के प्रयत्न में सहायता करने का ही काम विशेष रूप से कर सकते हैं। कार्य को सम्पादन करने का उत्तरदायित्व मुख्यतः सरकार पर है, और उसे यह करना चाहिए। आह ! यदि सरकार और जनता में यथेष्ट सहयोग हो, अथवा दोनों में द्वैत भाव न होकर जनता ही सरकार हो, तो समाज सुधार सम्बन्धी वह कौनसा कार्य है, जो हो न सके।

उन्तीसवाँ परिच्छेद

अपराधों की वैज्ञानिक चिकित्सा



“वह महापुरुष कब अवतरित होंगे, जो गुमराह जनता को पथ-विचलित शासकों को, आदेश करेंगे कि जेलों का फाटक बन्द कर दे ! आवश्यकता हो तो मनोविज्ञान-वेत्ताओं के निरीक्षण में मानसिक चिकित्सालय कायम करो । तभी उद्धार होगा ।”

प्राक्थन—अपराधों एवं अपराधियों तथा नये दंग की अपराधी-सुधार-संस्थाओं का विवेचन किया जा चुका । अब अपराधियों की चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार करना है । यह तो स्पष्ट ही है कि सब प्रकार के अपराध-रोगों के लिए कोई एक बना-बनाया नुस्खा, या रामबाण औषधि नहीं बताई जा सकती । हम देखते हैं कि सुयोग्य चिकित्सक एक ही रोग से ग्रसित भिन्न-भिन्न रोगियों के लिए उनकी रुचि और प्रकृति आदि के अनुसार, तरह-तरह के उपाय काम में लाता है; फिर एक प्रकार के सब अपराधियों को, एवं बहुधा विविध प्रकार के अपराध करनेवालों को कानून द्वारा एक ही लाठी से क्यों हाँका जाय ? सब को कुछ कम-ज्यादाह जुर्माने या कैद आदि के दंड रूप औषधि सेवन करने को क्यों विवश किया जाय ? कौन आदमी किस बात से अपराध करने में कहाँ तक रुकता है, इसका निश्चय करना आसान काम नहीं है, यह कार्य सोच-समझ कर किया जाना चाहिए । इसमें प्रत्येक अपराधी के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व का विचार करना होगा । कुछ आदमी ईश्वर के भय से, कुछ आदमी सामाजिक अपमान के विचार से, और कुछ आदमी राज्य के डर से

कुमार्ग-गामी होने से बचते हैं। इसलिए विविध श्रेणियों के अपराधियों के सम्बन्ध में आगे कही हुई बातें केवल मार्ग-दर्शक का ही काम दे सकती हैं, सुयोग्य चिकित्सकों तथा चिकित्सा-संस्थाओं को अपने अनुभव, मनो-विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र के आधार पर, उनमें आवश्यक संशोधन या परिवर्तन कर लेना चाहिए।

बाल-अपराधियों का विचार—पहले कुछ लोगों की यह धारणा थी, कि अपराध करनेवाला व्यक्ति अपने जन्म से ही मां के गर्भ से ही, अपराध करने की मनोवृत्ति लेकर आता है। अब सिद्धान्त रूप से इस बात का खंडन हो चुका है। प्रायः यह माना जाता है कि यदि कोई स्वस्थ बालक कोई अपराध करता है, तो वह ऐसी परिस्थिति के कारण करता है, जिस पर उसका कोई वश नहीं। इससे यह नतीजा निकलता है कि बाल-अपराधी के साथ, बालिग अपराधियों से भिन्न प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए।

जब बालक कोई अपराध करता है तो उसके कई कारण हो सकते हैं, यहां तक कि विचार करके देखा जाय तो एक अपराध का कोई एक ही कारण निश्चित करना बहुत कठिन होता है, क्योंकि बहुधा वह अपराध कई कारणों का मिला-जुला फल होता है। उदाहरण के लिए जैसा कि श्री प्रकाशनारायण सकसेना ने 'दंड शास्त्र' में लिखा है—'एक लड़का जो चोरी करता है, उसके नौ-दस कारण हो सकते हैं, जिनमें मजबूर होकर उसने चोरी की है। उन सब कारणों के एक प्रकार के पड़यंत्र से लड़का चोरी करता है, चाहे एक ही कारण उस समय के लिए मुख्य कारण हो। चोरी के कारण यह हो सकते हैं—१. माता-पिता की लापरवाही, २. खराब मकान, ३. बुरे साथी, ४. अच्छे खेलों की कमी, ५. खराब शिक्षा, ६. बेकारी, ७. विशेष लालच, ८. गरीबी, ९. शारीरिक कज (दोष) या मानसिक कमजोरी। एक लड़का जिसे जीवन में प्यार नसीब नहीं है, या जो अपने को सुरक्षित नहीं समझता, या जिसको शिक्षा नहीं

प्राप्त हो सकती, चोरी कर सकता है ।.....'ऐसे बच्चों के जुर्म करने का असली कारण दूँद निकालना मुख्य काम है, और जब उन कारणों का निरूपण हो जाय तो बच्चे का इलाज ठीक तौर पर हो सकता है ।'

छोटी उम्र के अपराधियों के विषय में विशेष रूप से, पृथक् विचार किया जाना चाहिए । उनके लिए अदालतें अलग होनी चाहिए । ऐसा न होने की दशा में, उन्हें मामूली अपराधों के करने पर, जो उनकी उम्र में होना स्वाभाविक ही है, जेलखानों में घोर अपराध करने वालों के संसर्ग में आना पड़ता है, यह बात नैतिक दृष्टि से बहुत घातक है ।

उन्नत राज्यों में, अपराधी बालकों के विचार के लिए, पृथक् अदालतें हैं । इनमें जाना अप्रयश की बात नहीं मानी जाती । अनेक बार स्वयं माता-पिता ही, जब वे अपने बालकों को नियंत्रित नहीं कर सकते, उन्हें इनमें भेज देते हैं । इन अदालतों के विषय में संयुक्त राज्य-अमरीका की व्यवस्था से अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है । वहां ये अधिक पूर्णता को पहुँची हैं । इनमें मेजिस्ट्रेट न्यायपति की अपेक्षा पिता की सी भावना से अधिक काम करता है । उसे, उसके कार्य में, अन्य अधिकारी सहायता देते हैं, जो अपराधी बालकों के चरित्र, स्वभाव, आदि के विषय में, उनके माता पिता, पड़ोसी, और अध्यापकों आदि से आवश्यक बातें मालूम करते हैं । दंड बहुत कम दिया जाता है, कैद आदि की सजा तो होती ही नहीं; बालकों की भिन्न-भिन्न प्रकृति या अवस्था का विचार करके, व्यवहारोपयोगी अनुभव के आधार पर ही दंड निश्चित किया जाता है । उदाहरणवत् एक बालक पर बिना किराया दिए यात्रा करने का अभियोग था । उसे यह दंड दिया गया कि उस विषय सम्बन्धी कानून की बीस बार नकल करे, उसे कंट करे, और उसी अदालत में एक महीने बाद सुनाए । इस प्रकार मेजिस्ट्रेट बालक के अनेक माधारण दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है, और बहुत-कुछ सफल होता है ।

गुरुतर अपराधों की दशा में, बालकों को निजी, सार्वजनिक या

सरकारी सुधारशालाओं (रिफार्मेंट्रियों) में भेजना ठीक है। इनमें उसकी भिन्न-भिन्न स्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिए। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि बालक दूसरों के विश्वास-पात्र बनें और सामाजिक शृङ्खला में आने उत्तरदायित्व को समझने लगें। इस व्यवस्था का एक आवश्यक अङ्ग यह है कि अनुभवी मनोविज्ञान-वेत्ता सुधारक उनपर विश्वास करके दिखाएँ। किसी व्यक्ति को बार-बार चोर या बेईमान कहने या प्रसिद्ध करने से उसका सुधार होना तो दूर रहा, अधिक पक्का चोर और बेईमान होने में सहायता मिलेगी। वास्तव में किसी मनुष्य की बार-बार निन्दा करने से तथा, उसे धृष्टित समझने से वह प्रायः निन्दा और घृणा के ही योग्य हो जाता है। इसके विपरीत, किसी से प्रेम करने से, उसे पास बैठाने से, और उस पर विश्वास करने से उसके मन में अद्भुत परिवर्तन होता है। वह स्वयं आत्म-सुधार करने लग जाता है, और इसमें बहुत-कुछ सफल होता है।

छोटा अपराधी उन्नत राज्यों में अनिश्चित काल के लिए किसी प्रतिष्ठित सज्जन की देख-रेख में रखा जाता है। वह उसे हर प्रकार से सुधारने का प्रयत्न करता है; उसे, करने के लिए यथा-योग्य कार्य बताता है, उसके लिए व्यापार धंधा सीखने की व्यवस्था करता है, उसे कुसंगति से बचाता है; उसे अपना सुधार करने पर प्रोत्साहित तथा पुरस्कृत करता है; और उसकी उन्नति की सूचना केन्द्रीय कार्यालय को देता है, जिसे यह निश्चय करना होता है कि उसे कितनी अवधि तक उक्त या अन्य किसी सज्जन की देख-भाल में रखना आवश्यक है, अथवा अभियुक्त के लिए कुछ और योजना करनी है। यह कार्य बहुत कठिन है, पर यथेष्ट उद्योग करने से इसमें अच्छी सफलता मिलती है।

नवयुवक अपराधियों का विचार—ऊपर हमने बाल अपराधियों की चिकित्सा का विचार किया। साधारणतया विविध देशों में जो बच्चों का कानून है, उसके अनुसार किसी व्यक्ति की १६ वर्ष की उम्र तक

उसका बचपन माना जाता है। इसके बाद बालक युवा अवस्था में प्रवेश करता है। यह अवस्था बहुत ही नाजुक होती है। इसमें बालक को स्वतंत्रता अधिक मिल जाती है, उसमें साहस बढ़ जाता है, काम-वासना जागृत हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में इस अवस्था का एक विशेष स्थान है। यदि यथेष्ट देखभाल और पथ-प्रदर्शन या शुद्ध वातावरण न मिले तो उसके तरह-तरह के अनेक अपराध करने की सम्भावना है। यह अवस्था प्रायः इक्कीस वर्ष तक मानी जाती है। नवयुवक अपराधियों की चिकित्सा के लिए स्थापित 'वोस्टर्ल' संस्थाओं के विषय में, पिछले परिच्छेद में खुलासा लिखा जा चुका है।

बालिग अपराधियों का विचार—बालिग अर्थात् इक्कीस वर्ष से अधिक आयु के अपराधी से भी कुछ अंश में बालकों का सा व्यवहार किया जाना चाहिए, उनकी चिकित्सा में नमी तथा कठोरता के सम्मिश्रण से काम लेना चाहिए परन्तु नमी की मात्रा अधिक रहनी आवश्यक है, क्योंकि अपराधियों में प्रायः बदला लेने की भावना होती है, और वे साधारण दंड को भी अन्याय और अत्याचार समझा करते हैं। उनमें न्याय की भावना प्रबल करने के लिए उन्हें एक दूसरे के व्यवहार का निर्णायक बना देना उपयोगी होता है। इससे उनमें आत्म-सम्मान जागृत होता है, और वे अपने सुधार की ओर अधिक ध्यान देने लगते हैं। कभी-कभी अपराधियों को ऐसी-ऐसी बातें कहने का भी अच्छा परिणाम होता है, कि 'देखो, जैसा कार्य तुमने किया है, उससे तुम्हारा कुल कलंकित होता है, तुम्हारी जाति (या पेशे) वाले को ऐसा करना शोभा नहीं देता।'

मनोविज्ञान सम्बन्धी अन्यान्य बातों में यह भी स्मरण रखने की बात है कि मनुष्य कितने ही अपराध विशेष परिस्थितियों के वशीभूत होकर करते हैं। साधारणतया, उन्हें कुछ विशेष दशाओं में, कुछ विशेष कार्य करने की प्रवृत्ति होती है, इसे उनकी आदत कहा जा सकता है। जब विशेष कार्य की प्रेरक यह विशेष दशा बदल दी जाती है, तो उनकी वह आदत

भी बदल जाना स्वाभाविक है। पुनः किसी विशेष दशा में एक कार्य करने के बजाय, उसे न करने की अपेक्षा कोई दूसरा कार्य करना सरल होता है। अथवा, यों कह सकते हैं कि किसी आदत को छोड़ देने की अपेक्षा उसे बदल देना आसान होता है। इसलिए जब मनुष्यों की कोई खास आदत बुरी मालूम पड़े तो उसे बदलने का प्रयत्न करना चाहिए। और इसके लिए आवश्यक है कि जो बातें उनके सन्मार्ग पर चलने में बाधक होती हैं, उनका सुधार किया जाय। इस कार्य में कानून की उपयोगिता बहुत परिमित ही होती है।

यह स्पष्ट है कि अपराधियों को किसी व्यक्ति या संस्था के निरीक्षण में रखने की अवधि निश्चित करना कुछ तर्कसंगत नहीं है। जब कि इसका लक्ष्य उसका सुधार करना है तो जितने भी समय में अभीष्ट-सिद्धि हो जाय, उतनी ही अवधि रखना ठीक है। सम्भव है न्यायाधीश का अनुमानित समय कुछ कम हो, या कुछ ज्यादा ही रहे। ऐसी दशा में समय को आवश्यकतानुसार बढ़ाना-घटाना उपयोगी होगा। अस्तु, अपराधी के साथ जैसे और जितने व्यवहार की आवश्यकता हो, वह हो चुकने के बाद, उसे परीक्षार्थ कुछ समय के लिए स्वतंत्र रूप से रहने देना चाहिए। हां, उसकी पर्याप्त देखभाल होती रहनी आवश्यक है। उसे आजीविका प्राप्त करने और समाज में अन्य लोगों के साथ मिल-जुल कर जीवन व्यतीत करने की यथेष्ट सुविधाएं मिलनी चाहिए। यदि उसे अपराध-रूरी रोग का दौरा फिर हो, तो समझना चाहिए कि उसके इलाज में कमी रह गई है; उसकी पुनः ऊपर कही चिकित्सा करनी चाहिए। यदि कई बार चिकित्सा करने पर भी उद्देश्य सिद्ध न हो तो उसके रोग को असाध्य समझ कर, उसे सामाजिक जीवन से स्थाई रूप से पृथक् कर देना चाहिए, और उसके लिए वह व्यवस्था की जानी चाहिए जो अभ्यस्त रोगियों के बारे में, आगे बताई जाती है।

स्त्री-अपराधियों का विचार—रहते कहा जा चुका है कि

प्रायः स्त्रियाँ, पुरुषों की अपेक्षा कम मात्रा में और कुछ खास-खास ही अपराध किया करती हैं। उनके अपराधों का विचार करने के लिए अलग ही अदालतों की आवश्यकता है। उनके सम्बन्ध में, कानून में इस बात का लिहाज रखा जाना आवश्यक है कि घर में उनका बड़ा महत्व है, पत्नी या माता की थोड़े दिन की पृथक्ता से ही परिवार को बड़ी हानि पहुँचती है। कुछ स्त्रियों में अपराध-प्रवृत्ति असाधारण रूप से बढ़ी हुई होती है; ऐसी ठग, हत्यारी, या विष खिला कर मारने वाली स्त्रियों को खास उनके लिए स्थापित सुधारशालाओं में रखना ठीक होगा, जहाँ वे कुछ शारीरिक श्रम करें, और अधिकांश में मौन रहें।

भावुक अपराधियों का विचार—इन्हें कानूनी दंड की अपेक्षा अपने पश्चाताप से ही अधिक दुःख होता है। इन्हें इसके निवास-स्थान (गाँव या नगर) से, और उस स्थान से दूर कर दिया जाना चाहिए, जहाँ इनके द्वारा क्षति पहुँचाया हुआ व्यक्ति रहता हो; हाँ, इनके द्वारा पीड़ित व्यक्ति की क्षति-पूर्ति द्रव्य अथवा अनिवार्य श्रम के रूप में करादी जाय। इन्हें कैद न किया जाय। ये व्यक्ति साधारणतः समाज को क्षति पहुँचाने वाले नहीं होते, बहुधा औसत दर्जे के नागरिकों से अच्छे होते हैं, और अत्यधिक भावना के कारण ही अपराध करने को प्रेरित हो जाते हैं, जिसका सन्मार्ग में उपयोग किया जा सकता है। भावुक अपराधियों के दुष्कृत्यों का कारण बहुधा उनकी मानसिक स्थिति होती है, जिसका विचार आगे किया जायगा।

आत्म-हत्या करनेवालों का विचार—चाहे यह बात कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत हो, आत्म-हत्या करनेवाले में साधारण, अशिक्षित, असभ्य या निर्धन व्यक्ति ही नहीं, लेखक अध्यापक, बड़े-बड़े पूँजीपति, व्यवसायी तथा उपदेशक, सुयोग्य जज, वेरिस्टर, आदि भी होते हैं। मानव समाज के लिए यह बात कैसी अशुभ-सूचक है कि जिन व्यक्तियों से यह आशा की जाती है कि वे दूसरों के पथ-प्रदर्शक बनें, वे स्वयं अपना भी

परीक्षा का अवसर आने पर, यथेष्ट नियंत्रण न कर सकें, प्रतिकूल अवस्था का सम्यक् विरोध न कर, अपनी निर्बलता और पराजय का परिचय दें।

कुछ समय हुआ इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध जज श्रीमान् मेककर्टी ने आत्म-हत्या की। इस घटना के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में बहुत चर्चा हुई है। हम एक सुयोग्य लेखक के ऐसे विचार पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं, जिनसे इसके व्यापक रूप पर प्रकाश पड़ता है, तथा मानसिक कारणों से अपराध करनेवालों की चिकित्सा के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी होती है। ❀ उक्त लेखक का कथन है कि मैं विद्वान विचारक की इस सम्मति से सहमत हूँ कि मेककर्टी विक्षिप्त हो रहे थे; पर इसके साथ ही मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि उन्होंने मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व किसी रुचिकर साथी को लेकर, कुछ घोड़े लेकर, किसी एकान्त स्थान की यात्रा की होती, और वहाँ प्रकृति के साथ अपना मनोविनोद किया होता तो वे आज जीवित होते।

आगे लेखक स्वयं अपना एक अनुभव इस प्रकार बतलाता है। कुछ समय हुआ, मैं समुद्र पार कर न्यूयार्क गया। ज्योंही मैं साउथ-हैम्पटन बन्दरगाह पर, जहाज पर चढ़ा, मेरे एक साधारण परिचित व्यक्ति ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उसके कमरे में चलूँ। मेरे स्वीकार करने पर उसने मुझसे 'डेक' के बन्द तथा धिरे हुए स्थान में बैठने के लिए कहा।

पीछे उसने कहा—'मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह मेरी अन्तिम यात्रा है।

मैंने अपना प्रश्न बहुत ही साधारण प्रकार से किया—'तुम ऐसा क्यों कहते हो?'

❀ 'डेली एक्सप्रेस' से अनुवादित 'जागरण' के एक लेख के आधार पर

उसने मुझसे शपथ ली कि मैं किसी से उसकी बात न कहूँगा, और बतलाया—‘मैं जानता हूँ कि किसी-न-किसी समय मैं जहाज पर से कूद पड़ूँगा।’

मैंने उससे पूछा—‘क्या तुम पर कोई सङ्कट आ गया है?’ उसने कहा—‘नहीं।’

‘तब तुम क्यों कूदना चाहते हो?’

उसने कम्पित स्वरों में उत्तर दिया—‘मैं इस प्रेरणा को रोक नहीं सकता। मुझे कोई एक हजार पौंड भी दे, तब भी मैं अकेले इस डेक पर नहीं टहल सकता।’

निस्सन्देह यह व्यक्ति घोर ऐन्द्रिक दुर्बलता से पीड़ित था। मैं ऐसी दशाओं से काफी परिचित हूँ। मैंने पूछा—‘क्या तुम इसमें मेरी दवा करना चाहते हो?’

उसने एक बच्चे की तरह बड़ी उत्सुकता-पूर्वक सिर हिला दिया। तब मैंने उसे आज्ञा दी—‘जाओ, और एक घन्टे के लिए अपने जहाजी कमरे में लेट रहो, सोना मत। जागने की चेष्टा करना, कुछ पढ़ते रहना, मैं पाँच बजे व्यायाम शाला में तुमसे मिलूँगा, तब तुम्हें काफी देर तक गर्म सामुद्रिक जल से स्नान करना होगा। इसके बाद आध घन्टे का विश्राम होगा, तब हम भोजन के लिए कपड़े पहनेंगे। फिर हम रात में तफानी डेक पर खुले आकाश के नीचे घूमेंगे। वहां, यदि तुम गिरोगे भी तो नीचे के डेक पर ही रह जाओगे। तब उसके बाद मदिरा और भोजन।’

‘इसके बाद क्या हुआ यह पाठक अनुमान कर सकते हैं। दो दिन के भीतर ही वह जहाज के चारों ओर खुले घेरे से झुकने लगा, दृश्य देखने लगा, और उसने नीचे समुद्र के होने का विचार भी नहीं किया। उसने अपने जीवन की गाथा सुनाई। न्यूयार्क पहुँचने तक उसकी इन्द्रियाँ स्कूली बच्चे के समान स्वस्थ हो गईं, और मैं नहीं कह सकता, उसे फिर उपर्युक्त बातों की कष्ट-प्रद स्मृति हुई हो।’

लेखक कहता है कि “उस व्यक्ति और स्वर्गीय जज (मैककर्टी) दोनों की दशा समान थी । दोनों की इन्द्रियां लुधा-पीड़ित थीं, उनको भोजन की आवश्यकता थी । दोनों ही अत्यधिक कार्य से थके हुए थे । उनके मस्तिष्क उनके नौकर नहीं, स्वामी बन गए थे ।

“वह व्यक्ति जो बड़ा धनी था, जिस समय सोने की चेष्टा करता था, उसका मस्तिष्क नगर की बातें सोचा करता था— ‘साढ़े चार की दर से दस हजार पौंड ।’ ‘वहां का हिस्सा बेचकर यहां का खरीदो !’ ‘दस लाख पौंड न्यूयार्क भेजो और सबको थोक भाव में खरीद लो !’ दोनों ही व्यक्ति एकान्त-जीवन बिताते थे । यदि न्यायाधीश मैककर्टी को पत्नी उन्हें बच्चों की शगरत, रसोइये तथा नौकर के झगड़े इत्यादि घरेलू बातों को सुनाती रहतीं, तो या तो मैककर्टी इन बातों को सुनकर प्रसन्न होते या ऊब जाते; पर अपने दिमाग को खाना तो वे बन्द कर देते । मस्तिष्क को अपने राह पर दौड़ने को स्वाधीनता न मिलती ।

“बहुत दिनों से अनुभव करने के बाद, मैं इस तथ्य पर पहुँचा हूँ कि जिसे हम ‘आकस्मिक अविरोधी प्रेरणा’ कहते हैं, वह वास्तव में आकस्मिक नहीं है । यह ऐसी बीमारी की बढ़ी हुई अवस्था है, जो हफ्तों, कई दिनों पहले से चेतावनी देती आई है । न्यायाधीश मैककर्टी को मालूम था कि वे निरोग नहीं हैं । तर्क-शास्त्र के पण्डित होने के कारण वे यह भी जानते रहे होंगे, कि इन्द्रियों की थकावट से ही वे शारीरिक-हास का अनुभव कर रहे हैं और इसका प्रभाव उनके मस्तिष्क पर पड़ रहा है । तथापि वे अपना रोग संभालने में असफल रहे । उनके जैसा व्यक्ति कई दिशाओं में अपना जीवन बिताता है, और हर एक प्रकार का जीवन उनकी इन्द्रियों के श्रोत को चूसता रहता है । पर अनेक दिशाओं में विभक्त होने के कारण ऐसे उपाय भी अनेक थे, जिनसे वे अपने को ताजा बना सकते थे । सबसे अधिक शान्तिदायक वस्तु संगीत थी, गाल्फ का खेल था जो अपनी उत्तेजना में मनुष्य की अन्य उत्तेजनाओं को डुबा

देता है। टहलना, घुड़सवारी तथा बच्चों का साथ था। अबोध बच्चे जीवन के विषय में बृद्धों से अधिक जानकारी रखते हैं। समुद्र ऐसे रोगियों के लिए बड़ा उपकार करता है। यात्रा के साथ दृश्य-परिवर्तन मस्तिष्क के तन्तुओं को शान्ति पहुँचाता है। सबके ऊपर गर्म तथा चमकता सूर्य हम सब का पिता है, जो थकी आत्माओं को शान्ति प्रदान करने से कभी मुँह नहीं मोड़ता। मैककडों के विषय में न्यायाधीश का फैसला था—‘विद्वित दशा में।’ कोई इस फैसले से न डरो। मस्तिष्क का स्वास्थ्य हमारे हाथ में है। सहचार, सुख और स्वच्छ वायु—मस्तिष्क को ठीक रखने की यही तीन महान् औषधियाँ हैं। और—एकान्त में प्रार्थना और जप हमारी शान्ति का महान् साधन और उपाय है”

शारीरिक कारणों से अपराध करने वालों का विचार

कुछ व्याक्त ऐसे होते हैं, जो अपने जीवन के किसी विशेष समय में भारी चोट या बीमारी आदि के कारण अपराध प्रवृत्ति वाले बन जाते हैं। कोई व्यक्ति कौन से अपराध अपनी शारीरिक परिस्थिति से बाध्य होकर करता है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकना आसान काम नहीं है, तथापि सुयोग्य शरीर-शास्त्रवेत्ता इसका बहुत-कुछ पता लगा सकते हैं। अपराधियों की सूक्ष्म जाँच की जानी चाहिये, और यदि उनमें कोई शारीरिक विकार ऐसा हो, जिसके कारण वे अपराध करने को प्रेरित होते हों, तो उनके उस विकार को दूर किया जाना आवश्यकता है।

कुछ समय हुआ, अमरीका में एक विद्यार्थी था, उसका व्यवहार और स्वभाव आदि सब निर्दोष था। परन्तु उसमें एक बड़ी बुरी आदत थी। वह अपने बाईं ओर बैठने वाले विद्यार्थी (या अन्य आदमी) को मारा करता था। यह अपराध वह नित्य किया करता था। उसे बार-बार दंड दिया गया, परन्तु उसका सुधार ही न हो सका। अध्यापक उससे तंग आगए। अन्त में संयोग से एक सुप्रसिद्ध डाक्टर उधर आए

वातचीत से उनसे इस विद्यार्थी की चर्चा की गई। उन्होंने उसकी जांच की तो मालूम हुआ कि उसके उदर में वाईं ओर कुछ शरीर सम्बन्धी विकार है। उन्होंने उसकी अच्छी तरह चिकित्सा की। उसके बाद उस विद्यार्थी ने फिर कभी वह अपराध नहीं किया।

मानसिक कारणों से अपराध करने वालों का विचार—

कौन से अपराध मानसिक कारणों से होते हैं, और ऐसे अपराध करने वालों से कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह एक बहुत बड़ा और गम्भीर विषय है। हमारे यहाँ अभी तक इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। अमरीका इस विषय में अग्रणी है। श्री प्रकाश नारायण सक्सेना ने लिखा है—‘अमरीका में मन की बीमारियों की भली-भांति छानबीन की जाती है। बहुत सी अदालतों में मनोवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक नौकर होते हैं, जो अभियुक्त के मन और बुद्धि की जांच करके अदालत को सूचित करते हैं। जुर्म साबित होने पर अपराधी की मानसिक दशा पर ध्यान रखते हुए ही सजा दी जाती है। बहुत से जजों की राय है कि इस तरह की जांच के बिना वे ठीक फैसला नहीं दे सकते। खासकर बच्चों और जवान लड़कों के हित के लिए आवश्यक है कि उनके मन और शरीर तथा घर आदि की जांच के पीछे ही उनके लिए उचित चिकित्सा की योजना की जाय। कुछ विद्वानों की राय है कि मन्द-बुद्धि और कमजोर मन वाले लड़कों को प्रोवेशन या आजमायसी रिहाई पर नहीं छोड़ना चाहिए। उन पर यह सफल नहीं हो सकती, और उन्हें विल्कुल बिना सजा के छोड़ना भी अधिक खराब करना है। अमरीका में उनके रहने के लिए अलग ही संस्थाएँ हैं। उनमें रहने की कोई मियाद तय नहीं है। कुछ लोगों को तो वहाँ सदा के लिए रहना पड़ता है। यदि उनकी मानसिक दशा सुधर जाय तो वे ‘पैरोल’ पर छूट सकते हैं।

‘अमरीका के जेलों में भी मनोवैज्ञानिक नौकर हैं। जेल में पहुँचने पर कैदी की शारीरिक जांच डाक्टर करता है, और मन की जांच मनो-

वैज्ञानिक करता है, उसकी बुद्धि को नापा जाता है; तथा यह पता लगाया जाता है कि उसमें कोई मानसिक बीमारी या कमी तो नहीं है। इस जांच-पड़ताल के बाद ही जेल का गवर्नर हर एक कैदी का ठीक से नियंत्रण कर सकता है।^{१४}

‘प्रोवेशन’ और ‘पेरोल’—इस प्रसंग में दो बातें समझ लेना आवश्यक है—प्रोवेशन और पेरोल। जब अदालत किसी व्यक्ति को अपराधी पाती है तो उसके सामने यह प्रश्न होता है कि उस आदमी की उम्र, स्वास्थ्य, मानसिक दशा, पिछला चाल-चलन, और जुर्म करने के कारण का विचार करते हुए क्या यह सम्भव नहीं है कि अपराधी को जेल भेजने के बजाय कुछ शर्तों पर एक भरोसे वाले आदमी की निगरानी में छोड़ दिया जाय जिससे वह नेकचलन बन सके, और यदि वह उन शर्तों को तोड़े तो फिर बिना मुकदमा चलाए उसी जुर्म पर उसे जेल की सजा दे दी जाय। इस प्रकार की रिहाई को ‘प्रोवेशन’ या आजमाइशी रिहाई कहते हैं, और जिस भरोसे वाले आदमी की निगरानी में अपराधी छोड़ा जाता है, उसे ‘प्रोवेशन अफसर’ कहा जाता है। प्रोवेशन पर रिहाई, सजा की मियाद बता देने के बाद या बिना सजा दिए दोनों ही प्रकार से हो सकती है। दूसरी दशा में केवल शर्तों के तोड़ने पर ही अपराधी को बुलाकर सजा सुनाई जाती है।

प्रोवेशन अफसरों की नियुक्ति सरकार स्वयं कर सकती है, या वह किसी का इस विषय सम्बन्धी आधिकार स्वीकार कर सकती है। अवसर पड़ने पर अदालत भी किसी उपयुक्त व्यक्ति को प्रोवेशन अफसर नियुक्त कर सकती है। प्रोवेशन अफसर में निर्धारित योग्यता होनी चाहिए। उसका चाल-चलन, योग्यता, शिक्षा और प्रभाव ऐसा होना चाहिए, जिससे अपराधी का सुधार हो। उसे अपराधी के, मित्र और मंत्री सहायक का काम करना होता है।

❀ ‘दंड शास्त्र’ से संकलित।

अब 'पेरोल' की बात लें। पेरोल में अपराधी की जेल या इसी तरह की अन्य संस्था से रिहाई की जाती है। परन्तु अपराधी उसी संस्था के अधिकार में रहता है, और इस बात की परीक्षा की जाती है कि वह अपराधी-समाज में बिना देख-रेख के ठीक से रह सकता है या नहीं। अपराधियों के सुधार में अन्तिम उपाय पेरोल का है और पहला उपाय प्रोवेशन है। पेरोल जेल या रिफार्मेंटरी के साथ ही काम में आता है और यह जेल की कैद और पूरी रिहाई के बीच की स्थिति है। यह तभी सफल हो सकता है, जब रिफार्मेंटरी या जेल में अपराधी को उचित शिक्षा दी गई हो। ❀

अभ्यस्त अपराधी—जो व्यक्ति अभ्यस्त अपराधी मालूम हों, उनके मस्तिष्क आदि की यथेष्ट जांच की जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। तदुपरान्त जो व्यक्ति निश्चित रूप से समाज के लिए भयङ्कर प्रतीत हों, जिनकी दशा असंदिग्ध रूप से असाध्य ज्ञात हो, जिनके शीघ्र सुधार की सम्भावना न हो—उन्हें उनके लिए स्थापित विशेष संस्थाओं के सुपुर्द कर देना चाहिए, चाहे उनका अपराध छोटा हो या बड़ा। इस प्रकार उनके पृथक् निवास की व्यवस्था होगी, और वे समाज को हानि पहुँचाने से रोके जायेंगे। स्मरण रहे कि यह व्यवस्था समाज की रक्षा को ही लक्ष्य में रखकर की जानी चाहिए, अर्थात् उन्हें समाज से उस समय तक ही पृथक् रखा जाना चाहिए, जब तक कि उनकी बुरी आदतें न छूटें और चरित्र का सुधार न हो। यदि कभी किसी ऐसे व्यक्ति के विषय में यह निश्चय हो जाय कि अब यह समाज का कोई अहित न करेगा, तो अच्छी तरह विचार करके वह उक्त व्यवस्था से मुक्त किया जा सकता है।

अभ्यस्त अपराधियों की बस्ती किसी टापू या अन्य दूरस्थित स्थानों में होनी चाहिए। ये अपराधी निरीक्षण में रहते हुए अच्छा कार्य कर

सकते हैं, और इनके, समाज के लिए उपयोगी होने की सम्भावना हो सकती है।

वैज्ञानिक योजना का प्रयोग—क्या अपराध-रोग की समस्या को हल करने के लिए ऐसी वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की आशा की जा सकती है ? अवश्य ही किसी बड़े देश में ऐसी योजना एक-दम व्यापक या पूर्ण रूप से व्यवहृत होनी कठिन है। तथापि देश के कुछ चुने भागों में, प्रसिद्ध नगरों या कस्बों में, इस योजना को अंशतः चालू किया जा सकता है। समय-समय पर कोई उन्नत विचारों वाला ऐसा जज मिल सकता है, जो निर्धारित कानून की सर्वथा अवहेलना न करते हुए भी मुकदमे की पैरवी और उसके फैसले के सम्बन्ध में सुयोग्य चिकित्सकों और मनोविज्ञान-वेत्ताओं के परामर्श का भी विचार करे, कुछ म्युनिसिपैलिटियाँ और कार-पोरेशन आगे बढ़ कर ऐसी व्यवस्था कर सकती हैं कि अपराधियों की शारीरिक और मानसिक परीक्षा का प्रबन्ध करें, और इससे जो ज्ञान प्राप्त हो, उसका कुछ क्रियात्मक उपयोग करने लगें। कुछ जेलर या वार्डर (जेल के पहरेदार) इस वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करनेवाले मिल जायें तो वे कैदियों के जीवन को यदि सुधार न सकें तो कम-से-कम उसे अधिक बिगड़ने से रोक सकते हैं। अपराध-शास्त्र की शिक्षा की उन्नति और प्रचार होने से समाज की मनोवृत्ति ऐसी हो सकती है कि अपराधियों को इस विषय के विशेषज्ञों के सुपुर्द करने में अधिकाधिक लोकमत तैयार हो जाय, और समाज के रुख को देखकर, या समाज के अनुरोध से, राज्य अपराध-रोग के निवारण तथा चिकित्सा के लिए इस वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन करे।

अपराधी संसार का भविष्य—इस प्रकार, वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए इस योजना के अंशतः अथवा खंड-खंड ही प्रयुक्त होने की आशा जा सकती है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सुधार की धीमी गति पर्याप्त होगी। वर्तमान सभ्यता की पेचीदगी और प्रलोभन बढ़ते जा रहे हैं,

इससे अपराधों की संख्या और मात्रा को उत्तेजना या प्रोत्साहन मिलना अनिवार्य है। यदि हमारी सुधार-क्रिया का प्रभाव, उसकी अपेक्षा अधिक हो तो भविष्य आशाजनक कहा जा सकता है। परन्तु यदि जनता के अज्ञान और आधुनिक दंड-पद्धति की इस विषय में अनुदारता और अन्ध-विश्वास ने अपराधों के निवारण और चिकित्सा के विषय में विज्ञान और बुद्धिमत्ता का मार्ग रोके रखा तो सामाजिक व्यवस्था अधिकाधिक बिगड़ती जायगी और समाज में अपराध करने वालों एवं अपराधों से कष्ट पाने वालों की उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। भविष्य-निर्माण के लिए अपने उत्तर-दायित्व को जान कर भी क्या हमारे विचारवान वन्धु इस दिशा में अपना समुचित कर्त्तव्य पालन न करेंगे ?

उपसंहार—दूसरों को प्रकट हो या न हो, संसार के प्रायः सब आदमियों की, एक अवस्था में झूठ, चोरी, बेईमानी, मारपीट या बदमाशी आदि करने की प्रवृत्ति होती है। हां; कुछ में यह क्रमशः बढ़ती जाती है; और, कुछ में इस पर समुचित नियंत्रण रहता है, अथवा इसका क्रमशः सुधार हो जाता है। किन कारणों से किसी व्यक्ति में अपराध करने की भावना जागृत होती है, और किन-किन बातों से उसका प्रवाह दूसरी ओर हटाया जा सकता है, कौनसा उपाय किसी व्यक्ति की विशेष अवस्था के अनुकूल होगा, और कौनसा प्रतिकूल, इस पर बहुत ठंडे दिमाग से, और गम्भीरता-पूर्वक विचार की आवश्यकता है।

अपराधियों से, जो शुष्क ही नहीं, निर्दयता का व्यवहार हो रहा है, उसे देखने-सुनने की हमें ऐसी आदत पड़ गई है कि उस के विषय में अधिकांश आदमियों का कुछ स्वतंत्र चिन्तन करना कठिन है। जिन सज्जनों का वर्तमान दंड-विधान के प्रति अन्ध-विश्वास नहीं रहा है, जो इसकी निरर्थकता समझ जाते हैं, वे भी प्रायः निराशा-पूर्वक कहने लगते हैं, 'तो फिर अपराधियों का क्या किया जाय।' वे भूल जाते हैं कि इससे अधिक महत्व का प्रश्न यह है कि अपराध होते क्यों हैं, और माता-पिता

तथा अध्यापकों द्वारा, समाज और राज्य द्वारा क्या-क्या कार्य किया जाना चाहिए, जिससे किसी के अपराधी होने का यथा-सम्भव अवसर ही न आवे ।

वातावरण और परिस्थिति में यथेष्ट सुधार करने की आवश्यकता है । अवश्य ही, इसके बाद भी अपराध-निर्मूल नहीं हो जायेंगे, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उस अवस्था में वे अत्यन्त कम होंगे । उन थोड़े से अपराधियों की चिकित्सा करना होगी, परन्तु उन्हें शत्रु समझ कर उनसे बदला लेने के लिए नहीं, वरन् रोगी, और अपना बन्धु मान कर, अपने सेवा-भाव का उपयोग करने के लिए । दंड के भय से नहीं, प्रेम और सहानुभूति से, प्रत्येक अपराध-रोगी की भिन्न रुचि, परिस्थिति, आदि के अनुसार शरीर-शास्त्र और मनोविज्ञान की सहायता से ही अपराध-चिकित्सा की जानी चाहिए । संसार में नये विचारों का प्रवाह तेजी से आ रहा है; आशा है इस महत्व-पूर्ण समस्या पर भी आदमी नवीन, तर्क-संगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करेंगे, और मानव समाज का भविष्य सुन्दर तथा सुखमय बनाने में सहायक होंगे । शुभम् ।

तीसवाँ परिच्छेद

अपराध-चिकित्सा के सूत्र

—:०:—

इस पुस्तक में अपराध रोग के निदान, निवारण और चिकित्सा का विचार यथा-स्थान किया जा चुका है । अब संक्षेप में, सारांश-रूप, ध्यान दिए जाने योग्य आवश्यक बातों का उल्लेख करके इस विषय को समाप्त किया जाता है ।

१—अपराध एक रोग है; इसमें समाज में रहने वाले व्यक्ति ग्रस्त होते हैं। इस रोग की चिकित्सा के लिए अपराध पर ही निगाह न रख कर अपराधी का और समाज का भी अध्ययन आवश्यक है।

२—अपराध-रोग की चिकित्सा से, इसका निवारण कहीं बेहतर है।

३—अपराध-रोग के निदान की ओर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, उतनी ही उसके निवारण और चिकित्सा में अधिक सफलता मिलेगी।

४—अपराधी की चिकित्सा के लिए आवश्यकता है सहानुभूति की, न कि दंड की; अस्पताल की, न कि जेल की; अनुभव और विवेक की, न कि कानूनी अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के पालन की।

५—अपराधों का मूल कारण सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ होती हैं, पर ये कारण बहुधा छिपे रहते हैं। तात्कालिक और प्रत्यक्ष कारण मानसिक होते हैं। अतः समाज की परिस्थितियों को सुधारने के साथ-साथ व्यक्तियों की मनोव्याधि-निवारण और मानसिक चिकित्सा की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए।

६—समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसके प्रत्येक सदस्य की शारीरिक और मानसिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की सहज ही पूर्ति की होती रहे; हाँ, आवश्यकताओं की संख्या और परिमाण परिमित रहे। जीवन में संयम और सादगी को प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए।

७—भिन्न-भिन्न राज्यों की राजनीतिक परिस्थिति भी कुछ अपराधों के कीटाणुओं की वृद्धि और पालन-पोषण में सहायक होती है। राज्य में किसी विशेष श्रेणी के हित का लक्ष्य न होकर सर्वोदय की भावना होनी चाहिए।

८—धर्म सम्बन्धी अनुहार दृष्टिकोण असहिष्णुता, मत-मतान्तर के भेदभाव, जैसे-भी-बने अपने मतानुयायियों की संख्या बढ़ाने की कामना

भी कभी-कभी भयंकर अपराधों का कारण होती है। इस लिए धार्मिक समभाव के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है।

६—भौतिक सभ्यता, स्वार्थवाद—यह भाव कि मेरा हित हो दूसरों की या समाज की चाहे जो हानि हो,—बहुत अनिष्टकर है। सभ्यता वहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होनी चाहिए मनुष्य आत्म-निरीक्षण करना सीखें।

१०—कोई व्यक्ति जन्म से अपराधी नहीं होता। अपराध बहुत-कुछ अपराधी की शिक्षा-दीक्षा और वातावरण पर निर्भर होते हैं। शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रायः माता-पिता और शिक्षक, तथा वातावरण के लिए विशेषतया समाज और राज्य उत्तरदायी हैं। अपराधी मनोवृत्ति वाले पिता-माता की सन्तान को पृथक् और स्वस्थ वातावरण में रखने की व्यवस्था होनी चाहिए।

११—धर्माचार्यों को चाहिए कि 'आत्मवत् सर्व भूतेषु', और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उपदेश दें; अपनी वाणी से ही नहीं, अपने व्यवहार और दैनिक जीवन से भी। उनका बल जनता का अन्ध-विश्वास नहीं, ज्ञान और और विवेक होना चाहिए।

१२—प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श विश्वबन्धुत्व, और विश्व-नागरिकता होना चाहिए। ऊँच-नीच धनी-निर्धन, काले-गोरे, हिन्दुस्तानी-अङ्गरेज, एशियाई और योरपियन आदि का भेद-भाव न होना चाहिए।

१३—अपराध-निवारण सम्बन्धी भरसक उपाय करने पर भी कुछ व्यक्ति अपराधी पाए जायेंगे; उनकी भिन्न-भिन्न रुचि, प्रकृति, स्थिति आदि का ध्यान रखते हुए, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के विकसित सिद्धान्तों के अनुसार उनका इलाज किया जाना चाहिए।

१४—अपराधी संस्थाओं का लक्ष्य दंड देना न होकर, अपराधियों का सुधार होना चाहिए। जिन अपराधियों के सुधार की सम्भावना न हो,

तथा जिनसे दूसरों की हानि होते रहने की आशंका हो, उन्हें समाज से पृथक् एकान्त में रखने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

१५—यदि स्वार्थ-त्यागी और परोपकारी साधु-सन्त महात्मा और महापुरुष अपराधी करार दिये जाते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि समाज और राज्य की व्यवस्था में कोई मौलिक दोष है, उसे दूर करने का अद्वि-लम्ब प्रयत्न किया जाना चाहिए।

१६—समाज अपने रीति-रस्म, व्यवहार को, तथा राज्य अपने कानूनों को समय-समय पर तर्क, विवेक, और मनोविज्ञान की कसौटी पर कसता रहे, और उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन और संशोधन करता रहे।

१७—समस्त प्राप्त ज्ञान और अनुभव का उपयोग मानव-समाज की सुख समृद्धि बढ़ाने में होना चाहिए, इसलिए अपराध-निवारण और अपराध-चिकित्सा के लिए यथेष्ट विचार-पूर्वक आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर होना चाहिए।

१८—हमारी जाति या धर्म से भिन्न लोगों के विरुद्ध तथा अन्य देशों या राज्यों के विरुद्ध किया हुआ अपराध भी वैसा ही विचारणीय है, जैसा कि स्वयं हमारे विरुद्ध किया हुआ है। सारी मनुष्य-जाति एक है, इसके अलग-अलग टुकड़े नहीं किए जाने चाहिए।

सहायक पुस्तकें

—:०:—

Fundamentals of Child Study

—E. A. Kirkpatrick

The Changing School

—P. B. Ballard

A Manual of Ethics

—G. S. Mackenzie

Little Blue Books

—E. Halderman Julius

Crime and Insanity

—C. A. Mercier

The Criminal Man

—C. Lombroso

History of Freedom of Thought

—J. Bury

Soviet Communism; A New Civilisation.

—Sidney & B. Webb.

अपराध

— मन्मथनाथ गुप्त

अपराध और दंड

— परमेश्वरीलाल गुप्त
और

धूमबिहारीलाल सक्सेना

दंड-शास्त्र

— प्रकाशनाराण सक्सेना
